

**TEXT DARK WITHIN
THE BOOK ONLY**

**PAGES MISSING
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182920

UNIVERSAL
LIBRARY

तार : "हिन्दी"

फोन नं. : ३४३५०

H 3437

Rs 80.5

A 31-

अजन्ता. वर्ष ११. अंक १. सितंबर १९५९. ग्रेजी

हिन्दी-प्रेस

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

नामपल्ली स्टेशन रोड,



हैदराबाद (आन्ध्र-प्रदेश)

टेलीफोन २९९

शो :—

तार : “मिस्ट्री”

तीस-चालीस वर्ष पहले तक बेतार का तार गप्प आ जादू माना जाता था। आज सब देखते, सुनते और समझते हैं कि वह केवल एक वैज्ञानिक यन्त्र है। इसी तरह हमारे भी यह नीचे बताए यन्त्र हैं जो सब सच्चे हैं और बिना किसी मेहनत-परेशानी कौड़ियों के खर्चे पर आपको न सिर्फ लखपति बना देंगे बल्कि हर समाज में आपको मान-प्रतिष्ठा दिलाएंगे। जादू-सन्नाट का सम्मान राजा से कम नहीं होता। यह सब शो घर बैठे ही केवल एक दिन में सहज ही सीखे जा सकते हैं और फिर दूसरे ही दिन कहीं भी कभी भी दिखाए जा सकते हैं। कोई सिद्धि कोई जप नहीं करना पड़ता। प्रत्येक शो में वर्षों तक काम देने वाला उसका पूरा बना बनाया तैयार सेट, उसकी सरल और पूरी विधि सहित भेजा जाता है।

* **मैजिक बक्स** : इस बक्स में ताश का पत्ता जला कर डाल देने से फिर खोल कर देखने पर वह पत्ता सही और साबुत निकलेगा। सादा कागज जलाकर डालने पर, नोट और रुपया डालने पर एक बार वह गायब हो जाएगा और दूसरी बार मिल जाएगा। (मूल्य २)

* **मैजिक फ्लेनल** : इसको स्त्री ही नहीं, किसी पुरुष की भी देह से लुभाते ही इसमें से दूध की धारा निकलने लगेगी और उसको हटाते ही धारा निकलना बन्द हो जाएगी। (मूल्य २॥)

* **मैजिक गेंद** : यह रंग-बिरंगी गेंद सूत की डोर में पिरोई हुई है। आपके अदेश पर यह चलेगी-दौड़ेगी और रुकेगी। (मूल्य १॥)

* **तिरलोचनी** : इस छोटी-सी लकड़ी में तीन छेद हैं। किसी से, बीच के छेद में सीक डालने को कहने पर वह सीक को सिरवाले छेद में ही डालेगा। (मूल्य १)

* **कागज से नोट** : सादे कागज को जला कर उसकी राख से सभके देखते-देखते नोट बना देना। (मूल्य १॥)

* **मैजिक मिस्ट्रीज़** : इसके द्वारा अपनी आँखों पर पट्टी बंधवा कर आप लिख सकते हैं, पढ़ सकते हैं और मोटर साइकिल चला सकते हैं। बहुत बड़ा जादूगर जब किसी नगर में जादू-विद्या का प्रदर्शन करता है तो पहले दिन अपनी आँखों पर पट्टी बंधवा कर उसी के द्वारा मोटर साइकिल से नगर के प्रमुख मार्गों पर चल कर सहज ही नागरिकों पर अपना प्रभाव जमा देता है। (मूल्य ५)

* **तिरवत का बक्स** : किसी दर्शक की घड़ी इस बक्स में उसी से रखवा कर और ताला लगवा कर बक्स उसी को दे दिया जाता है। परन्तु फिर ताला खोल कर देखने पर उसमें घड़ी नहीं मिलती। वह दूग मेज पर रखी डबल रोटी के काटने पर उसके अन्दर से निकलती है। (मूल्य ३॥)

* **विचित्र गोला** : यह एक ठोस रंगीन गोला सबके सामने देखते-देखते हाथ ही हाथ में एक से दो, फिर तीन और फिर चार बन जाते हैं। इसके बाद चार के तीन, दो और अन्त में एक रह जाता है। (मूल्य ३)

* **मास्टर मैजिक** : सबके सामने दर्शक के हाथ में से अँगूठी उड़ कर दूर गले गिलाम में पहुँच जाती है और फिर वहाँ से भी गायब हो कर डबल रोटी के अन्दर से निकलती है। (मूल्य ३॥)

* **ताश का पूरा सेट** : ताश का चमत्कार के इस पूरे सेट द्वारा आप ताश के खेल दिखा कर धुरन्धर विद्वानों को भी चकराते स्तर में डाल देंगे। (मूल्य ११)

* **मैजिक सिगरेट** : हवा में से दर्शकों अमली सिगरेटें पकड़ लेना और जलते ही तुरन्त सबको हवा में उड़ा देना। (मूल्य २॥)

* **मैस्मैरेजम शो** : लड़कों को जमीन पर लिटा कर और चादर से ढँक कर बेहोशी के हालत में उनसे सारे दर्शकों के अजीबोगरीब प्रश्नों के उत्तर ठीक-ठीक बता देने का गुप्त रहस्य इस कोर्स द्वारा आप घर बैठे ही केवल एक दिन में सीख जाएंगे और फिर आप दूसरे ही दिन अपने आपको “मैस्मैरेज” प्रसिद्ध कर महज ही धन-मान और यश प्राप्त कर सकेंगे। (फीस ३)

नोट :—(१) पैसे रुपय से कम का माल नहीं भेजा जाता। (२) माल की कम-से-कम चौथाई कीमत पहले आनी चाहिए।

१४३, यूनाइटेड मैजिक कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, मुरादाबाद.

अनुक्रम

कहीं एक सुख का स्वर भी है	गुरुवर श्री पं० काशीनाथ जी शास्त्री	
जितेन्द्र कुमार	१ इन्द्र विद्यावाचस्पति	३५
गीत	स्मृति-विभ्रम	
रामदेव	३ गोपीवल्लभ त्रिपाठ्याय	३८
फिर कमकने लगे	लोक गीतों में जीवन की समस्याएँ	
बल्लभ डोमाल	४ रामेश्वरदयाल दुबे	४१
गीत	कोचिंग कलास	
विद्यानन्दन 'राजीव'	५ कंचन कुमार	४५
बिखरे मोती	कला-चर्चा :	४६
मुकीम	६ नई पीढ़ी के चित्रकारों से, अलवर का	
शाह जमानी बेगम का खत	संग्रहालय	
अनु० : जीनत साजिदा	७ चिट्ठी-पत्री :	५३
जावा-बाली का नृत्य नाट्य	८ रामेश्वरदयाल दुबे, ब्रह्मानन्द त्रिपाठी,	
परमानन्द रस्तोगी	नरेन्द्र कुमार भनावत, जितेन्द्र कुमार,	
चीनी कश्मीर हड़चाठ	गोपीनाथ तिवारी, त्रिपुरारिराम, सत्य-	
राहुल सांकृत्यायन	१३ सेन गुप्त	
पाणिनि की 'वर्ण'—व्यवस्था	नीर-क्षीर :	५५
किशोरीदाम वाजपेयी	२० आन्ध्र भारती, अफ्रीका के जंगलों में प्यार	
हिन्दी और तेलुगु के व्याकरण पर एक दृष्टि	वौटते चलो, 'अरबी न फारसी'	
भीमसेन 'निर्मल'	२३ सामयिक :	६०
राबर्ट प्रेवम : एक परिचय	२७ हिमालय की आत्मा	
शम्भुनाथ चतुर्वेदी	सम्पादकीय :	६३
प्राचीन भारतीय कला का उद्देश्य	२६ वंशीधर विद्यालंकार	
श्री अरविन्द		



वर्ष ११

सितम्बर १९५९

अंक ९

कहीं एक सुख का स्वर भी है।

दुख के सारे स्वर हैं, लेकिन कहीं एक सुख का भी स्वर है।

आश्रय कहीं नहीं मिलता जब
चलते-चलते थक जाता हूँ
आश्रय की आशा में जग से
घृणा-उपेक्षा ही पाता हूँ

वहाँ पहुँच जाते पग मेरे
अनायास ही; और श्वास से—

एक यही ध्वनि निःसृत होती—‘यही, यही तो मेरा घर है’।
दुख के सारे स्वर हैं लेकिन कहीं एक सुख का भी स्वर है।

मैंने जब-जब सोचा मुझ को
 व्यर्थ लगा जीवन—जीवन-क्षण
 राग रहित, अनुराग रहित-सा
 मुझे लगा सारा जग-जीवन,

लेकिन ऐसा भी क्षण आया
 मुझे लगा कुछ ऐसा मानो

मेरे मन के अन्दर का कोई कोना संगीत-मुखर है !
 दुख के सारे स्वर हैं लेकिन कहीं एक सुख का भी स्वर है !

निष्ठुर पद का ठुकराया हूँ
 कोमल भुज का अपनाया हूँ
 कुछ भूला हूँ, कुछ भटका हूँ
 कुछ भरमाया—भरमाया हूँ

सौ-सौ विष के प्याले पीने—
 पड़े मुझे निष्ठुरतम कर के

लेकिन प्लावित किए हुए भी कोई मुझे अमृत-निर्भर है !
 दुख के सारे स्वर हैं लेकिन कहीं एक सुख का भी स्वर है !

यह सच है, निर्मम जगती में
 कोई स्थान बना न सका मैं
 यह सच है, निर्मम जगती को
 फूटी आँखों भा न सका मैं

यह भी सच है, वहाँ मुक्त हो
 गाता हूँ मैं, भाता हूँ मैं,

जहाँ एक अपनी अबनी है और एक अपना अम्बर है !
 दुख के सारे स्वर हैं लेकिन कहीं एक सुख का भी स्वर है !

गीत

एक समस्या मुलभ न पाई युगों युगों से—
मैं गाता हूँ अथवा मुझे गीत गाता है ?

बादल बनकर मेरी इच्छाएँ उमड़ी हैं,
बिजली बनकर मेरा मानस मुस्काता है;
मेरी मस्ती खिल उठती है कलियाँ बनकर
फसलों में मेरा चिर यौवन लहराता है

लेकिन इतना भेद न जाना—
मैं गाता हूँ रूप प्रकृति का युगों युगों से—
अथवा रूप प्रकृति का मुझको गा जाता है ?
एक समस्या मुलभ न पाई युगों युगों से—

अर्थी बनकर मेरी पीड़ाएँ रोती हैं,
शहनाई में मेरी खुशियाँ झूमा करतीं;
जब जब जुन्मों के खंजर चलते आहत पर,
मेरी कविता प्रखर क्रांति बन घूमा करती

लेकिन इतना समझ न पाया—
मैं गाता हूँ मत्स्य जगत् का युगों युगों से—
या खुद हृदय जगत् का माध्यम बन जाता है ?
एक समस्या मुलभ न पाई युगों युगों से—

फिर कमकने लगे

फिर कमकने लगे घाव भरते हुए
याद आने लगे तुम, बिसरते हुए

वक्तन बेवक्तन मत याद आया करो
तुम कभी तो मुझे भूल जाया करो
कुछ तरस तो कभी निटुर ! खया करो
रात-दिन यों न मुझ को रुलाया करो
नैन भरने लगे याद करते हुए
याद आने लगे तुम बिसरते हुए

जो मिलन के मधुर क्षण गए सो गए
तुम कहाँ चल दिए हम कहाँ को गए
और वे सुनइले दिन कहाँ खो गए
प्यार में हँस दिए प्यार में रो गए
हम बिगड़ ही गए यो सुधरते हुए
याद आने लगे तुम बिसरते हुए

हर कली खिल गई फूल बनने लगे
किन्तु मेरे लिए शूल बनने लगे
उम्र ढलती रही प्राण जलते रहे
प्यार के पंथ प्रतिकूल बनने लगे
हर घड़ी हर पहर यों गुजरते हुए
याद आने लगे तुम बिसरते हुए

यह तुम्हारी मधुर याद फिर आ गई
प्राण में चाँदनी सी समुद छा गई
रीप की लौ जगी चाह मन में पगी
बाँसुरी दर्द के गीत बरसा गई
नैन में सावनी धर उतरते हुए
याद आने लगे तुम बिसरते हुए

गीत

इतने गाओ गीत कि मन की पीर नीर बन कर दुल जाए
इतने फूँको प्राण वेणु का रुका हुआ दर स्वर खुल जाए !

१

यह तो सब को ज्ञात कि आना-जाना ही इस जग का क्रम है
है प्रवाह ही मलय, किनारा तो मिथ्या है, केवल भ्रम है
चलने के ही लिए मिली है चरण-चरण को नई जवानी
इसीलिए सबको होती है यहाँ पगति की शपथ निभानी
इतनी ज्योति लुटाओ अपने अन्तस के आलोक-महल से
जिमसे निविड अभावम की भी कजरारी चूनर धुल जाए !

२

चौरस्ते पर खड़े किसी की राह देखना नादानी है
भला किसी ने इस दुनियाँ में पीर पगड़े मी जानी है
सब हैं पन्थी और सभी की अपनी-अपनी अलग ढंगर हैं
माथ निभाने को तो नीचे धरती है, ऊपर अम्बर है
तुम तो अपने पागों में ऐसा अविचल संकल्प जगाओ
जिम से मंजिल स्वयं तुम्हारे पद-चिन्हों पर शीश मुकाए !

३

भागर को है गर्व, मिली है अगम-असीम उसे गहराई
गिरिमाला के अदंकार का कारण है उसकी ऊँचाई
किन्तु मनुज ने सबके ऊपर अपनी विजय-ध्वजा फहराई
क्योंकि मिली है उस उदधि सी गहराई, गिरि-सी ऊँचाई
तुम युग-पट पर चल कर कोई ऐसी अमिट लकीर बना दो
जिसे देखने को अम्बर से चन्दा उतर धरा पर आए !
इतने गाओ गीत कि मन की पीर नीर बन कर दुल जाए !

बिखरे-मोती

डर तक,
 तुम्हारी आँखों में देखता रहा..
 देखता रहा अपनी आँखें !
 उतरती रहीं...
 भागर की-सी अथाह गहराइयों में
 मेरी आँखें उतरती रहीं !

अन्तस्तल में पहुँच
 बिनने लगीं स्नेह-मोती
 बिनती रहीं...
 इतना बिन डालीं
 कि, बोझ बनकर हो गया
 मोती छलक पड़े
 दुलकते रहे...!

रिसाई पारा,
 पो० धमतरी,
 जि० रायपुर (मध्य-प्रदेश)

—मुकीम

शाह ज़मानी बेगम का खत

रंगून, मुल्क बर्मा, दिल्ली के कैदी बादशाह का घर।

अम्मी हज़रत को आदाब,

मैं आपकी चेटी काले पानी में हूँ। अपने वतन दिल्ली में हजारों कोम दूर, मेक से जुदा और ऐसी जुदा कि जीते जी कभी किसी मेक वाले में मिलने की आस नहीं है। आपका खत साँई सबील शाह मादब लेकर आए थे। जब वह हुज़ूर (बहादुर शाह) से बातें कर रहे थे तो मैंने चिमन में देखा वह ज़ार ज़ार रो रहे थे और हुज़ूर की आँखों में भी आँसू थे। बातें कर के साँई मादब उनके (जवाँ बरत के) माथ पर कमरे में आए और खत दिया। खत देते ही रोने लगे। मुझे भी वह वज़त याद आगया जब मेरी शादी हुई और ग़ालिब और ज़ौक के सहरों की चर्चा हुई, और मैंने आपके ज़रिए वे शानों पर मंगवाए तो यही साँई-सबील शाह सादब ले कर आए थे। उस वज़त में वली अहद हिन्दुस्तान की मल्लिका थीं। साँई सबील डेवाँद्यों और पदरेदारों को तबूर कर के मुझ तक आए थे। आज मैं एक जनावतन कैदी हूँ और एक कैदी की बीबी हूँ, कैदी साध और पसर की बहू हूँ। अब न यहाँ वह लाल किला है, न बात डेवाँद्यों, न पदरेदार! बस लकड़ी का बना एक मकान है जो घरमात में टपकता है और ज़िपमें दो चार कमरों के सिवा ज़्यादा गुंजाइश नहीं है। एक कमरे में हुज़ूर और मलकाएँ आलम (जीनत महल) की ख़ाबगाह। दूसरे में मेरा और 'उनका' विस्तर है। तीसरे में नौकर है और चौथे में खाने, मिलने-जुलने का इन्तज़ाम है। मुझे यहाँ की हवा राम नहीं आती। बारिश बहुत होती है, मच्छर भी बहुत हैं। मकान भी पुराना और बोसीदा है। अक़म बुख़ार हो जाता है। हुज़ूर और मलका आलम भी बीमार रहती हैं। खुदा के फ़ज़ल से 'यह' (जवाँ बरत) बस ऐंम है कि जिन को हवा में कुछ नुक़सान नहीं हुआ।

आपने दिह्ली की तबाही का जो हाल लिखा है वह तो जब हम दिह्ली में थे अपनी आँखों से देख आए थे।

हाँ आका भाई (बड़े भाई) की फौसी का हाल इस खत से मालूम हुआ। वह तो ग़दर के दिनों में बनारस गए थे। उनको किम ख़ता पर फौसी दी, यह बात आपने नहीं लिखी साँई मादब से मैं ने पूछा था कहने लगे हज़रत सैयद हमन असकरी को फौसी दी गई तो किसी ने कह दिया कि यह भी उनकी मांज़श में शरीक थे और शाह ईरान को जो खत गया था उसमें उनका भी दखल था—और बनारस इसी गरज़ से गए थे कि बात छुपाने का एक बहाना हो जाए। मैं ने आकाभाई का हाल सुना कि उन्हें बड़ी बेदरदी से फौसी दी गई और आप खुद फौसी के वज़त मौजूद थीं ता मुझे मारे गम के ग़श आने लगा। हम जब दिहली से जिलावतन हो कर चले हैं उस वज़त तक तो वह बनारस से आए नहीं थे। उनकी छोटी लकड़ी का बयान कर—कर के रोना भाई मादब से सुना तो कलेजा मुँह को आने लगा। उसकी उम्र अभी चार बरस की होगी गरीब को क्या ख़बर बाप कहाँ चला गया। जब मैं ने मईदा की यह बात सुनी कि आका भाई की लाश घर में आई तो उसने आप से कहा "अच्छा हज़रत हम से ख़फ़ा हो गए, बोलते नहीं आँख बन्द किए लेटे हैं" तो मेरा कलेजा टुकड़े टुकड़े हो गया। मईदा मुझे बहुत याद करती है? और जब से आका भाई के मारे जाने का हाल सुना है मईदा का खयाल रोज़ आता है। मुझे मिट्टी की निशानी है। मैं उसको देखती तो दिल के अक़म पर भरहम लग जाता। मगर मैं कहाँ और सईदा कहाँ और मेरे माँ बाप कहाँ और दिह्ली शहर कहाँ। अब तो कोई उम्मीद दिहली आ सकने की नहीं है।

हमारे बुजुर्गों पर बहुत ही बुरे वज़त आ चुके हैं। हज़रत बाबर हम से ज़्यादा मुसीबतों में पड़ चुके हैं मगर वह इतने मायूस नहीं थे जितने मायूस हम हैं। क्योंकि उनकी हिम्मत के आगे सारी दुनिया के दरवाजे खुले हुए थे। उनकी तलवार में जोर था। वह जब चाहते थे हज़ारों लाखों आदमी उनकी हिमायत के लिए खड़े हो जाते थे और उनकी मुसीबत दूर हो जाती थी। मगर हमारी यह हालत है कि इस शहर

का एक आदमी भी हमारा हमदर्द नहीं मालूम होता। दुनिया में हमदर्दी जभी होती है, जब हमदर्दी करने वाले को किसी से कुछ उम्मीद हो। हम से भला किसी को क्या उम्मीद होगी? सब जानते हैं कि हमारी हुकूमत खत्म हो गई। हमारे इकबाल का विराग गुल हो चुका। हमारे सब हिमायती मर चुके। अब जो हमारी मदद का इरादा करेगा या हम से हमदर्दी रखेगा उसे कैद होगी या फाँसी। और कोई इनाम इकराम हम उसे न दे सकेंगे। हजरत इनाम हुसैन क क्रांतिलों को यजीद के दरबार से बहुत कम गुजारा मिलता था यानी फौ कस डेढ़ सेर जौ दिए जाते थे। और क्रांतिलों ने महज डेढ़ सेर जौ के लिए रसूल अल्लाह के नवामे को कत्ल कर दिया। अगर हजरत इमाम हुसैन डेढ़ सेर जौ शाही फौज के हर आदमी को दे सकते तो वह क्रांतिल उन्हीं के साथ हो जाते। हमारा हाल भी ऐसा ही है कि आज हम अपने हमदर्दों और हिमायतियों को डेढ़ सेर जौ भी नहीं दे सकते फिर हम से कोई क्यों हमदर्दी करे और हमारी हिमायत का खयाल उसके दिल में क्यों आए। यह दुनिया तो उम्मीद पर कायम है जब हम किसी की उम्मीद पूरी न कर सकें तो वह हमारी मदद क्यों करे।

इस मुल्क की ज़बान और है, मजहब और है, रहना सहना, खाना पीना सब हम से अजनबी है। यह जानते भी नहीं कि हम कौन हैं और हमको क्यों कैद किया गया।

अम्मा बी। हमारी यह कैद ऐसी कैद है कि न हम कैद हैं, न आज़ाद हैं, न ज़िन्दा हैं न मुर्दा हैं। अपने घर में अपने शहर में अपने मुल्क में जा नहीं सकते इस लिए कैद हैं। तौक और जंजीर गले और पाँव में नहीं है इस लिए आज़ाद हैं। सब दोस्तों, क़राबतदारों में जुदा हैं इसलिए मुर्दा हैं। बोलते चालते, खाते पीते हैं इस लिए ज़िन्दा हैं। कहाँ तक लिखें साँई—अबील शाह की ज़बानी सब हालात मालूम हो जाएँगे। सईदा सुल्ताना को गोद में लेना, सीने से लगाना, मुँह चूमना और कहना फूफ़ी का प्यार लो। अब्बा हजरत को याद न करो। हमें भी भूल जाओ। न वह मिलेंगे न हम मिलेंगे। वह क़ब्र में हैं और हम भी क़ब्र में हैं। उनकी क़ब्र वतन में है और हमारी क़ब्र परदेस में है, जब तक हम ज़िन्दा हैं क़ब्र में हैं और जब मर जाएँगे तब भी क़ब्र में होंगे।

आदाब अम्मां जानी—तमलीम खाली गोदवाली—आपकी बेटी

हैदराबाद

अनु : जीनत साजिदा

दीर्घ आयु

“.....सोवियत संघ में ६० या १०० से अधिक वर्ष तक की आयुवाले लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। सोवियत संघ के अकेले एक जनतंत्र, यूक्रेन में ही १२,००० से अधिक ६० वर्ष से ऊपर के लोग हैं। इनमें अधिकांश लोग इस प्रकार के हैं जो अब भी मानसिक और शारीरिक श्रम करते हैं।

सोवियत संघ में कुछ धूम्रपान के विरुद्ध प्रचार किया जाता है। सोवियत संघ में मृत्यु संख्या निरन्तर घट रही है।”

—‘सोवियत भूमि’ से

जावा-बाली का नृत्य-नाट्य

जावा और बाली के साथ भारत के अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध रहे हैं। सम्राट् अशोक के समय से ही पूर्वी देशों तथा द्वीपों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का क्रम आरम्भ हो गया था। चौथी शताब्दी के प्रारंभ तक कल्लिमन्थन (बोर्नियो) के पूर्वी सिरे तक भारतीय मत्स्य स्थापित हो गई थी।

इन उपनिवेशों के संस्थापक शैव मतानुयायी उत्साही राजकुमार तथा व्यापारी ब्राह्मण थे। आज भी वहाँ शैव मन्दिरों, शिला-लेखों, धर्म-कर्म, नृत्य-संगीत तथा प्रचलित रीति-रिवाजों को देखने में उभय तथ्य की पुष्टि होती है।

जावा और बाली का नृत्य-संगीत आज भी अतीत की उस पावन सृष्टि तथा संस्कृति को सँजोए है। जावा के अधिकांश निवासी आज मुसलमान हैं पर उनका नृत्य-नाट्य आज भी उसी प्राचीन परम्परा में रंगा हुआ है। आज भी 'रामायण' तथा 'महाभारत' की कथाएँ उनमें अभिनीत होती हैं। बाली के अधिकांश निवासी हिन्दू धर्मानुयायी हैं। त्योहारों, उत्सवों तथा विवाहादि विशेष अवसरों के अवसरों पर वे मन्दिरों के सामने अपने मनाहारी नृत्य-नाट्य द्वारा प्राचीन संस्कृति एवं कलाकार को साकार करते हैं। बाली में तो नृत्य-नाट्य जन जीवन के अभिन्न अंग हैं। गाँव के किसान मजदूर रात्रि को मन्दिरों के पास एकत्र होते हैं तथा साधारण साज-सामान से ही नृत्याभिनय करके अपना मनोरंजन करते हैं। परन्तु जावा में नृत्य-नाट्यों को राजानुग्रह प्राप्त है। राजवंश के लोग उसमें रुचि रखते हैं तथा वहाँ उच्च स्तर पर इन नृत्य-नाट्यों का आयोजन होता है।

यद्यपि जावा बाली के नृत्य-नाट्य पर भारतीय छाप है परन्तु जो प्रणाली आज वहाँ के नृत्य-नाट्य की प्रचलित है इसका भारत की वर्तमान किसी भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन पद्धति से सामंजस्य नहीं मिलता। वहाँ के नृत्य-नाट्य में अंग-संचालन तथा नृत्य के आदर्श को विशेष महत्व दिया जाता है। अभिनय

की मजीबता एवं स्वाभाविकता को गौण माना जाता है और नमका उद्देश्य केवल कथानक को स्पष्ट करना मात्र है।

यहाँ के नृत्य-नाट्यों में रंगमंच पर परदों की व्यवस्था नहीं होती। अपने देश की रहस्य लीला तथा नौटंकी के समान दर्शक चारों ओर से बैठ कर देखते हैं। अभिनेता तथा नर्तकों को अन्त तक देखा जा सकता है। नर्तकों को रंगमंच पर नौटंकी के समान ही दूर से आना पड़ता है। परन्तु अन्तर इतना है कि हमारे यहाँ अभिनेता मंच तक स्वाभाविक गति से आता जाता है, परन्तु वहाँ उसे नृत्य भंगिमा में ही आना जाना पड़ता है।

नृत्य नाट्यों में नर्तक, गायक, एवं वादक दल के अतिरिक्त एक कथक होता है जिसे 'ढालाङ्ग' कहते हैं। इसका कार्य प्राचीन भारतीय नाटकों के सूत्रधार के समान होता है। वह वहाँ की प्राचीन 'कवि' भाषा में नृत्याभिनय की घटनाओं के मध्य योगसूत्र करता है। ढालाङ्ग जब अपनी नृत्याभिनय की पुस्तक में से घटनाओं का पाठ करता है तो सुन कर ऐसा लगता है जैसे हमारे देश का कोई पुरोहित मन्त्र पाठ कर रहा हो।

यहाँ के नृत्य-नाट्यों में युद्ध का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। नृत्य नाट्यों में प्रायः ऐसा कथानक रहता है जिसमें न्याय, अन्याय दो पक्ष होते हैं तथा दोनों पक्षों का परस्पर युद्ध होता है। अन्त में न्याय की अन्याय पर विजय होती है। रंगमंच पर गायकों का दल जिस ओर मुख करके बैठता है नृत्याभिनय में जो लोग न्याय पक्ष का अभिनय करते हैं वे सब समय उनके दाहिनी ओर से तथा दुष्ट पक्ष के लोग सर्वदा बाईं ओर से प्रवेश करते हैं।

नृत्याभिनय में नर्तकों के चलने-फिरने के भी विशेष नियम हैं। कथानक में वर्णित पात्रों के शारीरिक बल के अनुपात से ही अभिनेताओं की चाल को भी विभाजित किया जाता है। कथानक के प्रधान नायक राम, अर्जुन

प्रभृति की चाल में यदि शान्त पौरुष का भाव व्यक्त होगा तो रावण, घटोत्कच आदि गति में उग्र भाव । अर्जुन परम वीर होते हुए भी नृत्य की चाल के हिसाब से भीम से नीचे स्थान पाएँगे दूसरे राजा गण पृथ्वी से जितना पैर उठा कर चलेंगे, भीम, घटोत्कच आदि को उससे अधिक उठा कर चलना होगा । इससे इसके लिए नर्तक में भी उसी परिमाण में शारीरिक बल का होना आवश्यक है अन्यथा वह उस कष्टसाध्य अभिनय को करने में असमर्थ रहेगा । इसी प्रकार राजा तथा भृत्य एवं स्त्री तथा पुरुष की चाल में भेद होता है । कबल विदूषक की चाल अनियंत्रित लापरवाह तथा तथा तेज होती है । भारतीय नाट्य-शास्त्र में भी अभिनय में पात्र-पात्रियों की गति संबंधी विस्तृत आलोचना मिलती है जिससे प्रकट होता है कि प्राचीन काल में अभिनय में संबंधी अनेकों नियम यहाँ भी प्रचलित थे जो कालान्तर में समाप्त हो गए ।

कथानक : जावा-वाली नृत्य-नाट्यों के प्राचीन कथानकों में मुख्य हैं—राम-रावण, पाण्डव-कौरव, भीम-अर्जुन, सुवाली-रावण युद्ध आदि । इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत की अन्यान्य अनेकों कथाएँ भी अभिनीत होती हैं । इन नृत्य-नाट्यों के पात्र यद्यपि हमारी रामायण तथा महाभारत के ही होते हैं, परन्तु उनकी कथा वस्तु में बड़ी भिन्नता पाई जाती है । इन्द्र युग में इन प्रन्थों की कथाओं का जो स्वरूप वहाँ के निवासियों को प्राप्त हुआ वह कालान्तर में बहुत कुछ बदल गया है । बोरशिरोमणि अर्जुन को कृष्ण के समान रसिक एवं भ्रूंगारिक नायक प्रदर्शित किया जाता है । जिस नाट्य में अर्जुन रहेंगे उसमें कन्या हरण की कथा अवश्य रहेगी । इसी प्रकार कृष्ण के संबंध में भी बड़ी आत्मक एवं विचित्र कथाएँ प्रचलित हैं ।

पार्श्व संगीत : नृत्याभिनय क साथ-साथ पार्श्व-संगीत का योग रहता है । यहाँ क पार्श्व-संगीत में गामेलन संगीत का बड़ा महत्व है । यह एक प्रकार का संयुक्त वाद्य संगीत होता है । इसमें कई प्रकार के वाद्य यंत्रों का समावेश रहता है जिन्हें मूल रूप में चार भागों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम में ढोल प्रभृति ङाल से मढ़े काठ के यन्त्र होते हैं जिन्हें 'कानडेंग' तथा 'कापडक' कहते हैं । यह हमारे देश के मृदङ्ग के सदृश ही अंगुलियों से बजाए जाते हैं । इन्हीं के द्वारा नर्तक

को भंगि-परिवर्तन, चलने-फिरने, आरम्भ-शेष आदि का संकेत मिलता है । द्वितीय भाग में गत बजाने वाले यन्त्र रहते हैं । इनमें मुख्य हैं शारन, बोनाङ्ग, गन्डर, गाम-गङ्ग, चालेम्पुंग, रबाब तथा सुलिंग । प्रथम के तीन वाद्ययन्त्र कौन की घांटियों से होते हैं । गामगङ्ग काठ के पदों का तथा चालेम्पुंग एवं रबाब तार के वाद्य यन्त्र हैं । सुलिंग बाँस की बाँसुरी होती है । तृतीय भाग के यन्त्र भी द्वितीय भाग के समान ही होते हैं । अन्तर केवल इतना है कि वे अत्यन्त कोमल आघात से बजाए जाते हैं और उनमें ऐसी मधुर झंकार रहती है कि हृत्के में आघात क पश्चात् हाथ रोक लेने पर भी बड़ी देर तक उनमें से कोमल स्वर-लहरी ध्वनित होती रहती है । चतुर्थ भाग में विभिन्न आकार-प्रकार के अनेकों घण्टे रहते हैं । इनके नाम हैं—केथुक, केम्पल, केनङ्ग तथा गङ्ग । प्रति दो तथा छः मात्रा पर कथुक घण्टा, प्रति चार मात्रा पर केम्पल तथा पत्येक आठ मात्रा पर केनङ्ग घण्टा बजता है । सम्पूर्ण गत की अन्तिम मात्रा पर बृहत् घण्टा गङ्ग गुरु गम्भीर स्वर में बज उठता है ।

अभिनय : यहाँ के नृत्य-नाट्यों में नृत्य नियमों तथा उसके प्रचलित आदर्श को विशेष महत्व दिया जाता है । अभिनय की स्वाभाविकता का विशेष विचार नहीं होता । युद्धादि दृश्यों में नृत्य भंगिमाओं द्वारा युद्ध का इंगित मात्र किया जाता है । नृत्याभिनय में साधारण नृत्य गति अत्यन्त धीर होती है तथा युद्धादि में भी वही धीरता विद्यमान रहती है । युद्ध नृत्य में भी किसी प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक चंचलता दाँष्टगोचर नहीं होती । जब एक व्यक्ति दूसरे पर आघात करता है तो उसकी अंग भंगिमाओं से उस आघात का इंगित मात्र प्रकट होता है । नर्तक उस स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं करते ।

जावा-वाली का नृत्य नाट्य यद्यपि भारतीय आदर्श में अनुप्राणित है फिर भी वह कथाकली जातीय नहीं है, यह सुव सत्य है । कथाकली में गीत के प्रत्येक शब्द को नेत्र, मुख, हाथ, अंगुली तथा पैर की मुद्राओं एवं गीत के अन्तर्गत् से बाँध दिया गया है । परन्तु जावा-वाली के नृत्याभिनय में अंगुलियों की दो एक साधारण मुद्राओं को छोड़ कर मुद्राभिनय नहीं होता । जो कुछ मुद्राएँ व्यवहृत होती भी हैं उनका कोई विशेष अर्थ नहीं होता । वे केवल अंगुली के एक अन्दर प्रकाश

तथा सौन्दर्य वृद्धि के लिए व्यवहृत होती हैं। नृत्याभिनय में नृत्य ही प्रधान होता है।

अपने देश में नृत्य-नाट्य में कथोपकथन नृत्य-मुद्राओं तथा अभिनय द्वारा प्रकट किया जाता है। परन्तु वहाँ अभिनेता स्वयं ही मुख से कथोपकथन करता है। अभिनेता रंगमंच के मध्य में दोनों पैरों को पर्याप्त आगे-पीछे फैला कर सीधा खड़ा हो जाता है तथा दाहिने हाथ को दूसरे अभिनेता की ओर सीधा फैला कर बात कहता है। बात समाप्त होते ही कठपुतली के समान हाथ नीचे आ जाता है। कथोपकथन माधारण स्वर में ही होता है। उसमें किसी प्रकार का छन्द अथवा रागिनी नहीं होती।

यहाँ क नृत्य-नाट्य में एक और विचित्र बात देखने में आती है। अभिनेतागण रंगमंच पर अस्त्र-शस्त्र लेकर प्रवेश नहीं करते। इसमें लिए सुन्दर वेश भूषा में कुछेक रंगमंच के पार्श्व में पूर्वे नियुक्त खड़े रहते हैं। युद्ध के समय वही लोग विशेष प्रकार की मुद्रा में आगे बढ़ कर अभिनेताओं के हाथ में अस्त्र पकड़ा देते हैं। ठीक उसी प्रकार कार्य शेष हो जाने पर उन्हें वापस ले आते हैं। यदि किसी नर्तक-नर्तकी की साज-पज्जा अथवा वस्त्रों में कोई त्रुटि दिखलाई पड़ती है तो यही लोग चुपचाप नमके पाम जाकर उसे ठीक कर आते हैं। इसमें कोई चुगई नहीं समझी जाती।

अभिनेता-अभिनेत्रियों के वस्त्रालंकार अत्यन्त आकर्षक तथा मूल्यवान होते हैं। सुन्दर बेल-वूटोंदार स्वर्ण-स्वाँचन रेशमी परिधान तथा स्वर्ण-पत्र के मुकुट एवं अभूषण विशेष दर्शनीय होते हैं। गाँवों के निधन लोगों के पाम यथाप इतने मूल्यवान वस्त्रालंकार नहीं होते परन्तु फिर भी वे रंगारंग तथा चमकदार सुनहले रेशमी वस्त्रों और पीतल के चमकदार मुकुट तथा अभूषणों से अपनी सज्जा को आकर्षक बना लेते हैं।

नृत्यः पूर्वे ही कहा जा चुका कि जावा और बाली क नृत्य-नाट्य का प्रधान अंग है नृत्य। परन्तु वहाँ के स्वतंत्र नृत्यों को देखने से पता चलता है कि वे स्वतः एक नाट्य हैं। नृत्य में किसी न किसी कथा का होना अनिवार्य मा है। फिर भी उनमें अपनी एक विशेष कला है, सौन्दर्य है, आदर्श है।

जावा-बाली में कई प्रकार के प्राचीन तथा अर्वा-

चीन नृत्य प्रचलित हैं जिनमें से कुछ तो जावा के राज-परिवारों तथा धनी व्यक्तियों के अन्तःपुर तक ही सीमित हैं। जावा का श्रिम्पी नृत्य इसी कोटि का है। इसमें माधारणतः राजकुमारियाँ तथा अन्तःपुर की अन्य कुमारियाँ ही भाग लेती हैं। विवाहित स्त्रियों का इस नृत्य में भाग लेना वर्जित है। इतिहासकारों का कथन है कि प्राचीन काल में देवमंदिरों में देवदासियाँ इस नृत्य को करती थीं। इन देवदासियों को 'डम्प्री' कहा जाता था। मुस्लिम युग में जब हिन्दू मंदिर नष्ट-त्रष्ट हो गए तो इन देवदासियों को सुन्नानों के अन्तःपुर में स्थान मिला। तभी से यह नृत्य राजसामाजिकों की सम्पत्ति हो कर रह गया। इस नृत्य में अर्जुन तथा उनकी दो प्रेमिकाओं से सम्बन्धी एक युद्ध नृत्य है।

ग्यालक नृत्य वहाँ का एक अत्यन्त कठिन नृत्य है। इसे अधिकतर स्त्री मेघधारी अत्यायु बालक अथवा पेशेवर नर्तकियों ही करती हैं। प्रत्येक नृत्य में प्रायः एक घण्टे का समय लगता है। उनकी देर घुटनों को आधा मोड़ें, शरीर, हाथ तथा सिर को अनेकों भंगिमाओं में टेढ़ा-मेढ़ा करके मंथन गति से चलना पड़ता है। उसके लिए शारीरिक शक्ति तथा असीम मानसिक धैर्य की आवश्यकता होती है।

जावा के नृत्यों की एक विशेषता है नृत्यों के समय नर्तक अथवा नर्तकी मन की सारी चंचलता दूर करके मन को उम्मी नृत्य के रस में डुबाए रखते हैं। देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे अपने लिए ही नाच रहे हैं। दर्शक की उपस्थिति से जैसे उन्हें कोई सरोकार नहीं। उनकी दृष्टि सब समय भूमि की ओर रहती है। शान्त, धीर, तन्मय, विभोर वे अपने नृत्य के रस में लीन नाचते रहते हैं।

लेगंग नृत्य बाली का प्राचीन तथा प्रधान नृत्य है। कहते हैं इसकी उत्पत्ति पूजा-नृत्य श्याङ्गाङ्ग, रज्जाङ्ग तथा गाम्भू नृत्याभिनय में से हुई है। इन तीनों में से सुन्दरतर वस्तु को लेकर इस नृत्य की रचना की गई है। तिरछी चितवन, मृदु मुस्कान, द्रुत लय में कन्धों और प्रीवा का संचालन इसमें विशेष दर्शनीय होता है।

श्याङ्गाङ्ग नृत्य बाली का एक पावन पूजा-नृत्य है। किसी ग्राम में रोग-व्याधि उपस्थित होने पर गाँव के देवता के सामने सब लोग एकत्र हो कर पूजा करते हैं। यह नृत्य उसी का प्रधान अर्थ है। इसमें अधिकतर

किशोरियों भाग लेती हैं। लोगों का कथन है कि नृत्य में भाग लेने वाली किशोरियों को मंदिर के पुजारी द्वारा मंत्र से पवित्र कर दिया जाता है। तदुपरान्त वे देवता के सामने नाचती हैं। उनका नृत्य देख कर वास्तव में आश्चर्य होता है क्योंकि वे नेत्र बन्द करके अत्यन्त द्रुत लय में ताल के साथ योग रखती हुई अनेकों प्रकार से दुर्द्ध सुद्राओं में नाचती हैं। कहा जाता है कि मंत्र-पूत होने के कारण जब तक वे मंत्र-बद्ध रहती हैं तब तक उन घात-जघन का ज्ञान नहीं रहता। उनके भीतर से स्वयं देवी नृत्य करती हैं। यदि नृत्य में कोई व्याघात उपस्थित होता है तो उसे अशुभ समझा जाता है।

ताजीखाना, मशकगंज,
लखनऊ

नगरों तथा नई रोशनी के लोगों में इधर कुछ दिनों में स्वतन्त्र नृत्यों का भी प्रचार होने लगा है परन्तु गाँवों में तथा प्राचीन आदर्शवादी कलाकारों के मध्य आज भी प्राचीन पद्धति पर आधारित नृत्यों एवं नृत्य-नाट्यों का ही चलन है। प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित परम्परा एवं आदर्श को जिम प्रकार वहाँ के कलाकारों ने अचुगगा बनाए रखा है, वह निस्सन्देह सराहनीय है। बीसवीं शती के आधुनिकीकरण के इस क्रान्तिकारी युग में भी हमें भारत से दूर जाया तथा बाली के नृत्य-नाट्यों में अपने अतीत की कला तथा संस्कृति की झलक दिखाई पड़ती है।

—परमानन्द रस्तोगी

धन और ज्ञान

एक बार धन और ज्ञान में वाद-विवाद छिड़ गया।

धन ने कहा—मैं तुम्हें खरीद सकता हूँ।

ज्ञान ने कहा—मैं तुम्हें कुछ समझता ही नहीं।

वाद बढ़ गई।

तब तब सड़क पर दूर से एक मनुष्य आता दिखाई दिया। दोनों ने तय किया, उसी से निरर्थक करवाने का। जब यात्रा समीप आया तो धन और ज्ञान दोनों उसका रास्ता रोक कर खड़े हो गए बोले—
‘हममें से किसे पसन्द करने हो?’

यात्री बोला—अभी नहीं, अभी तो मैं यात्रा पर जा रहा हूँ। लीटते समय मैं निरर्थक करूँगा। तुम दोनों यही पग मिलना।’

तब कह वह आगे बढ़ गया।

यात्री कुछ वर्षों बाद उसी रास्ते से गुजरा। धन और ज्ञान उसकी इन्तजारी कर रहे थे दोनों फिर उसके सामने जा खड़े हुए। और उसे अपने वायदे की याद दिलाई।

यात्री बोला—भाई! मैं आज बहुत थक गया हूँ। थूढ़ तो हूँ ही। चालो मेरे साथ चलो। जो अन्त तक मेरा साथ देगा वही सबसे बड़ा सिद्ध होगा। कुछ दूर धन और ज्ञान यात्री के साथ गए। रास्ता पड़ाड़ी था। एका-एक यात्री का पैर लड़खड़ाया और वह निगाधार हो कर जमीन पर गिर पड़ा। उसके प्राण पखेरू बड़ गए। धन और ज्ञान घबड़ा कर एक दूसरे का मुँह देखने लगे।

तब तब पड़ाड़ी की गहरी खाई से प्रति-ध्वनि हाँती यात्री की आवाज सुनाई दी ‘कौन आएगा मेरे साथ?’

न धन बोला न ज्ञान।

वागणसी,

—रामचन्द्र शुक्ल

चीनी कश्मीर हङ्-चाउ

२८ अक्टूबर को पौने सात बजे हम रेल में हङ्-चाउ के लिए रवाना हुए जो यहाँ से सवा चार घण्टे के रास्ते पर है। नान-किङ् से शुरू हुआ दृश्य यहाँ भी दोहराया जा रहा था। यह भी नहरों का प्रदेश है। रास्ते में पटसन और गन्ने के भी बहुत से खेत मिले, जिससे जान पड़ा, हम पूर्वी भारत में आ गए हैं। जया कम्पार्टमेंट के पास ही उसी की उम्र की एक जर्मन लड़की थी। दोनों एक दूसरे की भाषा को नहीं समझती थीं, लेकिन खेलते-खेलते सखी बन गईं। रास्ते के स्टेशनों पर लौह यज्ञ सब जगह चल रहे थे।

११ बजे ट्रेन हङ्-चाउ स्टेशन पर पहुँची। धार्मिक विभाग के प्रातर्निधि श्री चाङ् स्टेशन पर मिले। नगर के भीतर से होकर हङ्-चाउ के महासरोवर के किनारे पहुँचे। फिर उसके किनारे होते पंचमंजले हङ्-चाउ होटल के ३११ नम्बर के कमरे में गए। होटल पहाड़ की जड़ में है। उसके सामने थोड़ी ही दूर पर विशाल सरोवर है। यह सरोवर और इसके चारों तरफ़ के दूरे-दूरे पहाड़ इस शहर को सुन्दरतम बनाते हैं। हङ्-चाउ की आबादी ११ लाख है। इसके सरोवर को शी-हू (पश्चिम सरोवर) कहते हैं। सरोवर को रखने में कितनी मेहनत करना पड़ती होगी? वर्षों बाद सफ़ाई की गई होगी। सरोवर का पेंदी बहुमूल्य खाद से भरी है। उसे बेकार नहीं रहन दिया जाता। खादने वाले यन्त्र लगे हैं, जो पेंदी की कीचड़ को खोद कर मोटे पाइपों द्वारा किनारे पर बने बड़े क्यारों में भर देते हैं। पानी निथर जाता है। कीचड़ गाढ़ी हो सुख जाती है, फिर लारियों पर ला कर उन्हें खेतों में बाल दिया जाता है। हङ्-चाउ कभी चीन की राजधानी था। नवीं शताब्दी में हू वंश की राजधानी रहा। ११ वीं १२ वीं शताब्दी में उत्तरी चीन पर तातारों का अधिकार रहा। उस समय स्वतन्त्र चीन के सुहृद वंश की यही राजधानी थी। नगर २१०० वर्ष पुराना है, पर उसकी प्रसिद्धि सातवीं सदी से हुई। आजकल यह २ करोड़ ४० लाख आबादी वाले चे-चाङ् प्रदेश का राजधानी है। दस्तकारी में यह नान्-किङ्

की तरह ही विख्यात है। अब तो बहुत-से नए-नए कल कारखाने खुल रहे हैं।

होटल बहुत ही सुन्दर बना है। थोड़े ही नीचे उतर कर पक्का घाट आ जाता है, जहाँ नौका-बिहार के लिए नावें मिल जाती हैं। हम तीन बजे नाव पर चढ़े। जया-जेता बड़े कौतूहल के साथ देख रहे थे। शाङ्-है और नान-किङ् में वह स्टीमर से नबी पार हुए थे, उसमें पानी का स्पर्श सीधे नहीं हो सकता था। पिकिङ् के ग्रीष्म प्रासाद में जलस्पर्श अवश्य हुआ था। पर वहाँ शी-हू की तरह का आकर्षण नहीं था। सरोवर के चारों तरफ़ मकान हैं। यद्यपि उनका क्रम लगातार नहीं है। सरोवर में अनेक द्वीप हैं। कहीं कहीं सौन्दर्य बढ़ाने के लिए पत्थर के दीपस्तम्भ भी स्थापित हैं। हम घूमते-घूमते पीतनाग गुहा देखने गए। चीन में नागों की बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। नागमूर्ति वहाँ की कला में प्रधानता रखती हैं। कालीन और सुई के काम में भी नाग अंकित होते हैं। चीनी सम्राटों का लाँछन नाग था हमारे हिमाचल की तरह चीन में भी नाग जल के रत्नक देवता हैं। गुहा देख कर सरोवर के किनारे गए। वहाँ बाँय की छत, बाँय के स्वम्भों और बाँय की ही सब चीजों की खुली बारादरी थी। उसमें मेज और कुर्सियाँ बाँय ही के थे। सैकड़ों आदमी बैठे, सरोवर और पर्वतस्थली के मनोरम दृश्य को देखते, चाय, सोडा, या बियर पी सकते थे। बाँय के शिष्ट में चीन का कोई मुकाबला नहीं कर सकता। हमारे यहाँ भी बाँय बहुत होता है। बंगाल में उसका व्यवहार मकान बनाने में काफ़ी किया जाता है। कितने ही मकानों की दीवारें भी बाँय के चाँचर की होती हैं। पर, यहाँ तो वह किसी भी मूल्यवान काष्ठ का स्थान ग्रहण करता है। हजारों प्रकार की चीजें इससे बनती हैं।

सूर्यास्त हो जाने के बाद हम होटल लौटे। नाव से लौटने की जरूरत नहीं थी, हमें लेने के लिए होटल से कार आ गई थी।

२६ अक्टूबर को दिन साफ़, मौसम बहुत अनुकूल था। गर्मों का कहीं पता नहीं था। हम नावते

के बाद यहाँ के सबसे पुराने और सबसे बड़े विहार लिन-यिन-रम को देखने गए, जिसकी स्थापना ३२६ ईसवी में भारतीय भिक्षु हुई-लिन ने की थी। सरोवर से जग सा पहाड़ के भीतर को घुमकर वह मनोरम स्थान आता है, जहाँ विहार अवस्थित है। बगल के पहाड़ों के पत्थरों में अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। कुछ खुदी हुई गुफाएँ भी हैं। पुराने विशाल वृक्ष इसकी शोभा को बढ़ाते हैं।

पिछले १६०० वर्षों में अनेक बार बिहार की मरम्मत हुई। सबसे पिछली बार १६५२ में उसकी मरम्मत आरम्भ हुई। विशाल बुद्ध प्रतिमा जीर्ण-शीर्ण हो कर टूट-फूट गई थी। कम्यूनिस्ट सरकार ने चीनी संस्कृति की इस महान् प्रतीक को ऐसी अवस्था में रहने देना नहीं पसन्द किया और सात लाख युवान (१४ लाख रुपया) इसकी मरम्मत पर खर्च हुए। बुद्ध की बैठी प्रतिमा साढ़े सोलह भीतर को बैठी ऊँची है। चीन के चोटी के मूर्तिकारों ने इसका पुनर्निर्माण किया। अंग-अंग के सौन्दर्य के बारे में क्या कहना? पर, चेहरे में सांवला रंग लाने के लिए काफ़ी रंगपोत दिया गया। मैंने पूछा—“यह क्यों?” जवाब मिला—“भारतीय साँवले होते हैं।” उन्हें यह मालूम नहीं कि भारत में कोयले से काले भी आदमी होते हैं और नीली आँखों, पीले बालों वाले स्त्री-पुरुष भी कश्मीर और गन्धार में मिल जाते हैं। चीनी भाषा में अनुवादित बौद्ध ग्रंथों के देखने से मालूम हो जाता कि बुद्ध नीली आँखों और अत्यन्त गौरवर्ण वाले थे। विहार के नायक ६८ वर्ष के, बहुत ही पंडित पुरुष हैं। पार्लियामेंट के सदस्य हैं। उनके बिहार में १६ से ८० वर्ष वाले ५० भिक्षु रहते हैं। मैंने पूछा—अक्सर बिहारों में तरुण भिक्षु नहीं मिलते, इसका क्या कारण है? उन्होंने अपनी राय प्रकट करते हुए कहा—“तरुण भिक्षु बनाना अच्छा नहीं है। उनको शिक्षा-दीक्षा देकर जब पौंच-षात वर्ष में हम तैयार करते हैं, तो वह चीवर छोड़ कर घरबारी बन जाते हैं। मेरा तो मत है, प्रौढ़ों को ही भिक्षु बनाया जाए, जो गृहस्थ की लालसा पूरी कर चुके हैं और बुद्ध की शिक्षा में श्रद्धा रखते हैं।” यह बिहार ध्यान सम्प्रदाय से सम्बंध रखता है। स्थविर ने हमारी बड़ी अभ्यर्थना की और चलते समय जया-जेता को बहुत-सी मिठाइयाँ दे दीं। कमला ने इस बात को विशेष तौर से मार्क किया,

कि उन्होंने सिर्फ इसी विहार में एक व्यक्ति को बुद्ध के सामने धूपबत्ती जला मत्था मुका कर बन्दना करते देखा। वह २४-२५ बरस की तरुणी थी। ऐतिहासिक विहार में दर्शकों का ताँता लगा रहता है। स्कूलों-कालेजों के मैकड़ों लड़के-लड़कियाँ यहाँ आते हैं। उनके अध्यापक तथा विहार के पथप्रदर्शक वहाँ की हरेक मूर्ति, हरेक वस्तु पर लेक्चर देते हैं। उस भीड़ में वह लड़की घुटना टेके पूजा कर रही थी। बड़ी हिम्मत की बात थी।

वहाँ से हम यू-छेन-रम (स्फटिक जलविहार) देखने गए। बिहार में आगे की ओर बुद्ध और पीछे अमिताभ की मूर्ति थी। सरकार ने इस मंदिर की भी मरम्मत करवाई; कुण्ड में मछलियाँ पाली गई थीं। इसे स्फटिक जल तो नहीं कहा जा सकता, पर जल परिशुद्ध था। दर्शकों के लिए चाय और पेय का प्रबन्ध था। धार्मिक भावना अब सांस्कृतिक भावना में परिवर्तित हो लोगों को यहाँ खींच कर लाती है।

सेनीटोरियम: हट्-चाव वस्तुतः इतना रमणीय और स्वास्थ्यप्रद स्थान है, जहाँ आदर्श सेनीटोरियम स्थापित किए जा सकते हैं और वह स्थापित हो भी रहे हैं। सरोवर की तरफ के पर्वत पृष्ठों पर तो उन्हें नहीं रखा गया है, किन्तु छेन्-याङ नदी की तरफ के पहाड़ों में अनेक सेनीटोरियम बनाए जा चुके हैं। सह-साब्दियों पहले सरोवर का सम्बन्ध नदी से रहा होगा, पर अब वह नहीं है। शायद उसी पुराने जलमार्ग से रेल की सड़क बनी है। हम भी उसी के ऊपर से निकाली सड़क से सेनीटोरियम की तरफ चले। पहाड़ों के घेरे को पार कर विशाल नदी के किनारे आए। रेल और सड़क के पुल का पास में छोड़ हम दाहिनी तरफ मुड़े और नदी के किनारे-किनारे ऊपर की ओर चले। शान्तस्तूप को लौटते वक्रत के लिए छोड़ कुछ किलोमीटर आगे जा पहाड़ पर चढ़ने लगे। फिमू-फुङ-शाज सेनीटोरियम का निर्माण शाङ्गै के मजदूर सभा ने किया है। सभी इमारतें नई हैं और कई मंजिला हैं। इसमें २५० रोगियों के लिए स्थान है। उस समय दो (७० स्त्रियाँ) रह रहे थे। संचालिका ने अपनी संस्था का परिचय देते हुए बताया यहाँ १० डॉक्टर, १६ नर्स और बहुत से परिचारक हैं। सभी प्रकार की चिकित्सा-विधियाँ उपयोग में लाई जाती हैं। कमरे दिखाए, कहीं सूर्यनान का प्रबन्ध था, कहीं अतिवासिनी किशोरों,

रोतगेन किरणों में चिकित्सा की जाती थी। उन्होंने कहा कि ध्यान से भी चिकित्सा की जाती है। मेरे कान खड़े हो गए ध्यान में चिकित्सा? उन्होंने बतलाया मानसिक योगवालों के लिए ध्यान चिकित्सा बड़ी लाभदायक गिद्ध होती है। ध्यान करने के लिए विशेष प्रकार की कुर्सी और पैरों के रखने के लिए पीठ को भी दिखलाया। ध्यान से वह मन को निर्विषय (विचारों से शून्य) करने को मानते हैं। मुझे चीनी बौद्ध संघ के उपाध्यक्ष की चार-फुट की बात याद आ गई। उन्होंने कहा था ध्यान, बौद्ध धर्म की एक महत्वपूर्ण देन है, जो चीन में निर्गर्जित नहीं होगा। रोगियों के लिए क्रीड़ा और विनोद के भी बहुत से साधन हैं। छोटा-सा रंगमंच भी है, जहाँ नाटक होते हैं। कमरे बहुत साफ़ सुथरे थे। हरेक में तीन चारपाइयाँ लगी हुई थीं। आमतौर पर कुछ दूर हट कर बहुत से मैनीटोरियम बने थे और सभी पिछले चार-पाँच वर्षों में बनाए गए।

उसी रास्ते से हम फिर लौटे। रास्ते में ही हयो हो था (षट् शान्तिस्तूप) मिला। पर्वत की जब मैं से जरा ऊपर यह चीन का सबसे ऊँचा स्तूप है, जिसकी ऊँचाई ५६.८ मीटर (प्रायः २०० फुट) है। बाहर से १२ मंजिला दिखाई पड़ता है, पर भीतर से सात मंजिला है। कम्युनिस्ट शासन के बाद उसकी माँगोपग सम्मत की गई। स्तूप का निर्माण सन् ६७० में हुआ था। ११३२ में छोटी पापाग की उभारत यनी थी ११७६ में पत्नी पर बौद्ध मूर्त स्तूपों किए गए। इसका नाम पट 'शान्तिस्तूप' क्यों रखा गया उसके बारे में बतलाया गया कि छः शान्तियाँ हैं। मन की शान्ति, वचन की शान्ति, कर्म की शान्ति, लोभ, द्वेष और धन में शान्ति। पाम में कै ह्वाम्म विहार है, जिसमें भक्त रहते हैं। शी-हूँ (महा-सरोवर) के पाम न बनाकर उसे यहाँ बनाने का कारण था। मामने छेग-था-नदी की विशाल धारा बहती है। और परले पार दूर तक समतल भूमि थी। जहाँ से स्तूप को देखा जा सकता था। यह नदी १२ किलोमीटर में कुछ आश्रित जा कर समुद्र में मिल जाती है। होटल तक पहुँचते-पहुँचते शाम हो गई।

३० अक्टूबर को भी दिन साफ़ था। पूर्वाह्न में हम तू-जिन्-फैक्टरी देखने गए, जिसमें महार्थ रेशम के कपड़े बनते हैं। १९४४ में मेरे तू-जिन-सन ने इसकी स्थापना १९२२ में की थी। उनके बाद उनकी पत्नी

और भतीजे इनके स्वामी थे। १९५४ में चीन के सभी कारखानों की तरह यह कारखाना भी, राज्य के संयुक्त प्रबन्ध में आ गया। तू-जिन सन् का भतीजा कारखाने का उपसंचालक है। पहले सिर्फ १ मशीन काम करती थी। कम्युनिस्ट शासन के बाद कारखाने का पुनर्गठन हुआ और तीन फैक्टरीयाँ एकत्रित कर दी गईं। पहले कारखाना नगर से बाहर था। इस स्थान पर एक कपड़े की मिल थी, जिसे स्थानान्तरित कर यह रेशम का कारखाना १९५६ में यहाँ लाया गया। १९५४ में जहाँ सिर्फ १३० कमर काम करते थे, १९५८ में उनकी संख्या १८०० हो गई, जिनमें आधे से अधिक स्त्रियाँ हैं। १९५७ में ४६४ यन्त्र बुनाई और फूलकारी का काम करते थे। प्रायः सभी मशीनें बिजली में चलती हैं। २६ प्रकार के रंग विरंगे फूल बुनाई के साथ-साथ कपड़े में बुनते चले जाते हैं। अपत्ती रेशम का ही अधिकतर व्यवहार होता है। चेतन ४०-१५० युवान् मासिक है। कारखाने के भीतर पहले वर कमरा आया, जहाँ कलाकार फूलों और दूसरी चीजों की आकृति (डिजाइन) तैयार करते हैं फिर मोटे कार्ड बोर्डों पर छिद्र तैयार किया जाता है। उसे यन्त्र में लगाया जाता और अन्त में बुनाई होती है। सात प्रकार के रंगों से बिजली-चालित मशीनें रंगने का काम करती हैं। यंत्रों में २६ दूसरे देशों के थे बाकी सब जापान के बने हुए थे। अब ये यंत्र में देश में बनाए जाने लगे हैं। जून १९५६ में १०० मशीनें तैयार करके कारखानों में आएँगी। हङ्-चाउ अपने मुझे के काम वाले जेल-वृत्तों, प्राकृतिक दृश्यों या शमीहों (पोर्ट्रेट) के लिए प्रख्यात है। इन कारखानों में ये सभी चीजें बनाई जाती हैं। प्रदर्शनी के कमरे में चीजें मजा कर रखी गई थीं। कमला ने २५ युवान् (५० रुपए) की चीजें खरीदीं, जिनमें हङ्-चाउ का प्राकृतिक दृश्य भी था। १० युवान् की रेशमी छतरी की नफासत के बारे में क्या कहना? चीनी शिल्प या कला के महत्व को हम तब तक समझेंगे, जब दुनिया के किसी सुन्दर नमूने को उसके पास लाकर रखें। कमला ने कश्मीर में मुझे के काम का लाल ऊनी हाफ़ कोट खरीदा था। यहाँ उसके पहनने का मौसम था, लेकिन जब वह हाङ्-चाउ की चीजों के सामने आया, तो सचमुच की बहुत ही फूहड़ मालूम होता था, उसकी

फूल-पत्तियों अनादियों के हाथों बनी जान पड़ रही थीं। पहननेवाली बिचारी तो इतनी सकुचाई, कि उसे पहनने की फिर हिम्मत न हुई।

वहाँ से संप्रदाय में गए। म्यूजियम चीन के हरेक नगर के लिए अत्यावश्यक चीज है। वहाँ के शिक्षा शास्त्री जानते हैं कि जो इतिहास का ज्ञान ५० पोंथों से नहीं हो सकता, वह म्यूजियम में २ घण्टे घूबने से हो जाता है। पुरातत्व सम्बन्धी मामली डेग की डेग जमीन के भीतर से आजकल निकल रही है। जहाँ कहीं भी कोई इमारत खड़ी की जाती है, नहर या जलाशय तैयार किया जाता है, वहाँ जमीन के भीतर से सामग्री बाहर निकल आती है। वस्तुओं को नव-पाषाणयुग, ताम्रयुग, लोहयुग आदि क्रम से मजयाया गया था।

पायंकाल हम गहाँ के च-च्याङ् उद्योग विश्व-विद्यालय को देखने गए। इसका आरंभ १८६७ में ज्यू-शो विद्यालय के रूप में हुआ था। १९२७ में नार्मल स्कूल, कृषि कालेज और मेडिकल कालेज को मिल कर इसे चुङ्-शान् (सुन-यात् सेन) विश्वविद्यालय रूप दिया गया। पहले यह नगर में था। अब उससे कई किलो-मीटर दूर तथा सरोवर से दृष्ट कर पहाड़ की ओट में लाया गया है जहाँ पहले जंगल था। १९५८ में यहाँ ६१५१ छात्र (१११४ लड़कियाँ), ७१५ अध्यापक (३७ प्रोफेसर) थे। १९४६ में छात्र और अध्यापक कुल मिला कर २००० ही थे। आजकल इसमें आठ विभाग-यंत्र, विजलीयंत्र, औद्योगिक गायन, मिनिमल इंजीनियरिंग, धातु, कर्म, रसायन, भौतिकी और गणित हैं। सब मिला कर ३५ विषयों की शिक्षा दी जाती है। सभी जगहों की तरह यहाँ भी पढ़ाई पांच साल की है। विश्वविद्यालय में ६२ प्रयोग शालाएँ हैं। चीनी भाषा में सभी विषयों की पुस्तकें तैयार हैं। पर विज्ञान के लिए कोई भाषा पूर्ण नहीं हो सकती, इसलिए रूसी, जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी भाषा की बहुत सी पुस्तकें पुस्तकालय में हैं। पुस्तकों की संख्या ३ लाख है। विदेशी भाषाओं में रूसी भाषा अधिक प्रचलित है। देश विदेश से १५०० पत्र-पत्रिकाएँ इस विश्वविद्यालय में आती हैं। जिस पुस्तक को आवश्यक समझा जाता है उसके अनुवाद के लिए अनुवाद-ब्यूरो है, जो कुछ ही सप्ताहों में पुस्तक का अनुवाद माइक्लोस्टाइल करके यथेष्ट संख्या में दे देता है।

छात्रों में ७० प्रतिशत छात्रवृत्ति पाते हैं। अध्यापकों का वेतन ५० से १३० युवान तक है।

१९५८ से शिक्षा में जो परिवर्तन हुआ है, उसके अनुसार विश्वविद्यालय या कालेज के हरेक विभाग के साथ एक फ़ैक्टरी का होना आवश्यक है। विद्यार्थी चाहे कला के हों, विज्ञान के हों अथवा टेक्नीकल साइंस के-सब के लिए कारखाने में उत्पादन श्रम करना आवश्यक है। मानसिक और शारीरिक परिश्रम का रेखाएँ मिटा दी गई हैं। हरेक बुद्धिजीवी शारीरिक श्रमी है और हर एक श्रमी के लिए ज्ञान विज्ञान पढ़ना आवश्यक है। इस विद्यालय में एक बड़ी फ़ैक्टरी थी, जिसमें डच्चा रखने वाले सभी विद्यार्थी काम कर सकते थे। अब उससे काम नहीं चल सकता। हर एक विभाग के लिए फ़ैक्टरी चाहिए। एक ही फ़ैक्टरी को भानुमती का कुनबा बना लिया गया था अर्थात् वहाँ सभी वस्तुओं के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया था। अब वह चल नहीं सकता। हर एक विभाग के लिए विशेष फ़ैक्टरियाँ चाहिए। भानुमती का पिटारा भी विशेष फ़ैक्टरी का रूप ले रहा था। वहाँ की अनावश्यक मशीनें स्थानान्तरित की जा रही थीं और दम मन बीस मन तक भारी इन मशीनों को ढोने के लिए बाहर से कुली नदी बुलाए गए। सभी छात्र-छात्राएँ रबर-टायर की गाड़ियों में रख कर ऊँचे में तस्मा डाले खींचे लिए जा रहे थे। विश्वविद्यालय ६०० से अधिक विद्यार्थियों के होने पर भी अभी आरंभिक अवस्था में है।

३० अक्टूबर को ही हमें बान्-चाउ (कान्तन) के लिए रवाना होना था। पर किसी कारण से रेल का टिकट नहीं मिला इसलिए एक दिन और ठहरना आवश्यक होगया।

फुङ्चाउ कमून : ३१ अक्टूबर के लिए इस कमून का देखना निश्चित हुआ, जो यहाँ से १०० किलोमीटर दूर है। आठ बजे हमारी मंडली कमून के लिए रवाना हुई। छेन् थाङ् नदी को पारकर हम मैदान में आए उस पार भी कई कारखाने दीख पड़े। चीन कारखानों का देश होने जा रहा है। खेती और कारखाना दोनों को बढ़ाने की ओर सरकार का ध्यान है। अब कमून ने तो गति को और बढ़ा दिया है। जान पड़ता है चीन का हर एक किसान कारखाने का मजूर मिस्त्री होगा और हर एक मजूर-मिस्त्री किसान नहरो

के जाल के भीतर से पक्की सड़क आगे बढ़ती पहाड़ों में घुसी। फिर हम फुङ्गुआउ में पहुँच गए। इस कमून में ३७२ गाँव हैं, जिनकी जन संख्या ६६५४० है। इनमें काम करने वाले २६१०० हैं। मारे कमून का क्षेत्रफल ३७१ वर्ग किलोमीटर है, जिसमें ७० प्रतिशत पहाड़ी भूमि है। भारत में और कुछ ही वर्ष पहले चीन में भी पहाड़ी भूमि को दरिद्रता का अखण्ड निवास समझा जाता था। मैदानी भूमि पर लक्ष्मी की कृपा थी, क्योंकि वहाँ अन्न पैदा होता था। अन्न से कई गुना दाम लोहा, ताँबा आदि धातुओं या सीमेंट का है। पर, उनकी कोई कद्र नहीं थी। लक्ष्मी चीन में अब पहाड़ों में भी बैठने लगी है। इस कमून के पहाड़ों में लोहा, ताँबा, टिन आदि धातु, चूना पत्थर और कोयले की बहुत सी खानें पिछले दो वर्षों में आविष्कृत हुई हैं। कमून वाले अब बड़े-बड़े स्वप्न देख रहे हैं। स्वप्न देखना ही था जबकि उनके अपने कमून में लोहा बनाने के छोटे छोटे कारखाने बन गए हैं। सितम्बर (१९५८) में उन्होंने ७६६ टन लोहा बनाया। पहली नवम्बर से वह २०० टन प्रतिदिन बनाने जा रहे थे, अर्थात् महीने में ६ हजार टन, माल में ७२ हजार टन।

कमूनों में जहाँ भी गया, वहाँ एक विचित्र प्रकार का उत्साह देखने में आया। कुछ ही वर्षों में उन्होंने देखा, कि देश से भुखमरी, बेकारी अर्थात् दरिद्रता सदा के लिए चली गई। कमूनों के लिए भोजन और वस्त्र वैसे ही मिलता है जैसे हवा-पानी। उनका कोई दाम काम नहीं होता। उनका श्रम सैनिक ढंग से संगठित है। कमरों की आधी संख्या नागरिक सेना में है। इस कमून की एक महासेना है। आठ बटालियन, एक सौ सैतिया बम्पनी और पाँच सौ तेईस लेटून हैं। हरेक सेनाखण्ड का ऊपरी भाग निचले से तिगुना होता है। सेनापति तथा कमून के संचालक २५ वर्ष के तरुण सू-चु-सू हैं। उनके सभी विभागों के अध्यक्ष ३२ से कम उम्र के हैं। सिर्फ वाणिज्य-विभाग के मुखिया मात्र ३६ वर्ष के हैं। हल का जोतना यहाँ भैंसों और भैस से होता है। घोड़े और गदहे को यहाँ वाले नहीं जोतते। दूध का कोई उपयोग नहीं। कमून में १३८ प्राईमरी स्कूल हैं जिनमें १४ हजार २६३ विद्यार्थी ६ कक्षाओं में पढ़ते हैं। हाई स्कूल ३ और कृषि हाई स्कूल ५

हैं। ४८ पुस्तकालय हैं, ११८ क्लब, २८ अस्पताल और डिस्पेंसरी, कमून की समृद्धि को बतलाते हैं। ३७ वृद्ध भवनों में ३७० वृद्ध रहते हैं। कमून के पाप अपने चाय के बगीचे हैं, जो पहले जमींदारों के थे। पिछले तीन वर्षों में चाय की उपज १५६० तान में १२००० तान हो गई थी। चाय का कारखाना नए तौर से बनाया गया। यहाँ चीन के उपयोग की चाय नहीं होती, चीन की चाय उन देशों में भेजी जाती है जहाँ दूध चीनी के साथ इस्तेमाल किया जाता है। एक किसान इंजीनियर ने अपनी देखरेख में बनाए जाते नहर के रिजर्वॉयर को दिखाया। मिट्टी ढोकर बाँध की जगह लाने के लिए लकड़ी की रेलवे लाइन बनी थी। १४-१५ डब्बों को एक बैमा खींच कर ला रहा था। सेकण्डों में सारी मिट्टी की टोकरियाँ बाँध पर उलट दी जातीं और बैमा फिर खाली डब्बों को ऊपर खींच ले जाता। यहाँ के जमींदारों ने जिनमें कई ल'खों की सम्पत्ति वाले थे विशाल पितर मन्दिर बनवाए थे। चीन में पितरपूजा बहुत प्रचलित है। लोग अपने पूर्वजों की बहुत-सी पीढ़ियों के नाम याद रखते हैं—हाँ जमींदार और उच्चवर्ग के लोगों ही की बात है। हमारे यहाँ अपने मूल स्थान का बहुत लोगों को पता है, पर २०-२५ पीढ़ी पहले के पूर्वज से जितने परिवार निकले हैं उन सबको एक जगह एकत्रित होने का समय और स्थान नियत नहीं है। पुराने पितर-मन्दिर इसी के लिए थे जहाँ सभी वंशज साल में एक दिन एकत्रित होकर पूर्वजों की पूजा करते थे। वहाँ के दस पितर मन्दिरों में से एक में प्राईमरी पाठशाला थी। एक में अनाज रखने का गोदाम था। इसी तरह दूसरों का भी उपयोग था। किसी लखपति जमींदार का दुर्गजिला प्रासाद जैसा बंगला वृद्ध भवन के रूप में परिणत हो गया था। उसके कीमती पलंग तथा फर्नीचर अब वृद्धों के काम आ रहे हैं। लौटने से पहले हम लोह बनाने के चूल्हे को भी देखने गए। हमारे सामने ही तोड़ कर लोह की धार निकाली गई। एक टन के करीब लोहा एक घान में निकलता था। शाम होने को आई लेकिन देखने से मन नहीं भर रहा था, पर हमें सौ किलोमीटर जाना था। कुछ रात गए हम अपने होटल में पहुँचे।

पहली नवम्बर को होटल के पास यो-फे (११०३-४२ ई०) का मंदिर देखने गए। योफे वीर था (राजभक्त

था। प्रधान मन्त्री ने विश्वासघात करके शत्रुओं के सामने पराजय स्वीकार की। वीर योफे इसे मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। प्रधानमन्त्री ने सम्राट् को समझा कर योफे और उसके पुत्र को मरवा दिया। उस समय अन्याय हुआ पर इतिहास ने सगल साथ अन्याय किया। इस मंदिर में पिता-पुत्र दोनों की मूर्तियाँ देवता की तरह पूजी जाती हैं और प्रधानमन्त्री तथा उसके परिवार की मूर्तियों को लोग पीटते हैं। वहाँ से हम ताउ-ची बिहार देखने गए। दक्षिण मध्य काल (११-१२ सदी) में ताउ-ची नामक बौद्ध सिद्ध ने यहाँ अपनी सिद्धि प्रदर्शित की। एक कुएँ के भीतर म इतनी लकड़ी निकाली गई कि जिनमें बिहार बन गया। अभी भी कुआँ मौजूद है और उसमें लकड़ी का टुकड़ा भी तैरता है। लेकिन, अब पहले जैसा विश्वास लोगों में नहीं रहा। सिर्फ कौतूहल वश कुएँ में भोंकते हैं। कहते हैं—इसका क्या गबूत यह लकड़ी पीछे कुएँ में नहीं डाल दी गई? ताउ-ची ख्याति प्राप्त सिद्ध ऊपर था। एक भिक्षु ने उसका चित्र बनाया जो आज भी बिहार में मौजूद है। कहीं खड़ा हो कर देखने पर मालूम होता है, सिद्ध हमारी ही ओर देख रहा है। सैकड़ों स्कूलों के छात्र यहाँ देखने के लिए आते हैं और कथा दोहराई जाती है। शाम को तीन बजे 'मुकोयाना' का प्रारम्भ किया हुआ ओपरा देखने गए। शायद चीन ही एक ऐसा देश है, जहाँ की स्त्रियाँ बाकायदा महासेनापति नियुक्त होती रहीं, और उन्होंने पुरुषों से ज्यादा युद्ध क्षेत्र में गफलता प्राप्त की। वीर-गना 'मुकोयाना' आठवीं सदी में पैदा हुई। उसने बाकायदा सैनिक शिक्षा प्राप्त की। देश के ऊपर शत्रुओं का भय उत्पन्न हो गया। दूसरे सेनापति जब स्थिति को सँभाल नहीं सके तो अन्त में सम्राट् ने 'मुकोयाना' को सेनापति बनाया। स्त्री हो या पुरुष उनकी पोशाक चीन में बहुत नव्य हुआ करती थी। महार्घ फूलपत्ती वाले रेशमी वस्त्र (कोर्मा) का सारा पारधान होता था। जूते भी बड़े कलापूर्ण होते। वीरता सूचक चन्द्र सिर पर बारहसिंगे की तरह की पतली लम्बी दो सींगें हुआ करती थीं। सींगें लचकदार किन्तु भजवृत हुआ करती थीं। चीन में मूँछें इतनी बड़ी नहीं होती कि उन्हें मरोड़ कर खड़ा किया जा सके। बूढ़ों को जो दाढ़ी मूँछ होती भी थी वह ओंठ से मुँह ढाँपने नाभि तक पहुँचती थी। मूँछ मरोड़ने का काम वीर अपनी सींगों को मरोड़ कर

करता। जेता को चीन के ओपेरा और नाटक बहुत पसन्द थे। चीन के सेनापति के अभिनय सींगों के बिना चेहरे का कैसे कर सकता? वहाँ से सींग नहीं ला सका और भारत में मिलता नहीं। तो भी कान्पनिक निगाहों पर अब भी उनका हाथ चला जाता है।

कवान्-चाउ (कान्तन) जानेवाली यात्री! दिन में एक ही बार यहाँ से जाती है। वह शास्त्रों से चल कर रात ५ बजे पहुँचती है। यह समय यात्रा के लिए अनुकूल नहीं है। हम उसी समय स्टेशन पर गए। हम दो पूरी और दो आधी-आधी सीटों के आधिकारी थे, लेकिन जो रम्पार्टमेंट हमें मिला, उसमें दो ही सीटें थी और जगह जाने की बजाय चारों ने यही गुजारा लिया।

सबरे के समय हम च्याङ्गशी प्रदेश में थे, जो अधिकतर पहाड़ी है। यहाँ की मिट्टी मद्रास के कुछ भागों की तरह नारंगी रंग की है। ऐसी भूमि अधिक उर्वर नहीं होती, कि यदि उसमें खाद सिंचाई का पूरा प्रबंध न हो। गौन के देखने से मालूम होता था, कि यहाँ के लोग ज्यादा गरीब थे। यद्यपि अब भुखमरी नहीं है, पर कहावत है, "जिन्दगी भर का थोड़ा एक इतवार भूखने से थोड़े ही मिटता है।" मकानों को नया कलेवर धारण करने में बरसों लगते हैं, लेकिन अब कमून के लिए उतने समय की आवश्यकता नहीं। सारा दिन हमें ट्रेन में जाना था। हमारे उल्लेख प्रारम्भ में यात्री भी क्या-न-चाउ जाने वाले थे। जवान-जेता नुना-फरों के लिए खिलौने हो गए थे। इन्दू (हिन्दू) नाम से जादू का अग्र था।

खेत सभी धान के थे। पहाड़ अनेक प्रकार की धातुओं से भरे हैं। आदमी का हाथ कगामता। देख-लाने के लिए तैयार है। इसलिए च्याङ्गशी प्रदेश के के कलेवर बदलने क्या देर लगेगी?

३ नवम्बर को सबरे हम कवान-तुन प्रदेश में जा रहे थे, जिनकी आबादी सोढ़े तीन करोड़ के लगभग है। राजधानी कयान्-चाउ कान्तन के नाम से प्रसिद्ध है। अब जिन पहाड़ों के बीच से हम जा रहे थे, वह अधिक ऊँचे और हरियाली से ढके थे। सन्देह होता था, यह पूर्वी हिमालय का बड़ा हुआ भाग है। अब लीची, पपीते और केले के पेड़ भी दिखाई पड़ रहे थे, अर्थात् हम ऐसे प्रदेश में थे, जहाँ तापमान हिमबिन्दु से नीचे नहीं जाता, बर्फ नहीं पड़ती। यहाँ सदा उतनी

स्त्री होती होगी, जिनकी बनारस या प्रयाग में। लीची इसी प्रदेश से हमारे देश में गई और उसके साथ उसका चीनी नाम भी गया।

दोपहर से कुछ पहले हमारी ट्रेन क्वान-चाउ स्टेशन पर पहुँची। धर्म-विभाग के दो अधिकारी तथा कुछ भिक्षु-भिक्षुणियाँ स्वागत के लिए आए थे। ऐ-चुन्

होटल बारहमंजिला है, जिसकी मातवी मंजिला के ७०३ नम्बर वाले कमरे में ठहरे। भोजन में चावल और मुर्रों का मॉम भी था। किसी दुक्ड़े ने कमला के गले में खगाश पैदा कर दी। उन्हें मालूम हुआ, हड्डी गले में फँस गई। तुरन्त अस्पताल ले गए। डाक्टर ने परीक्षा करके बतलाया, वहाँ कोई हड्डी नहीं है।

हरिलाज,
मसूरी

—राहुक सांकृत्यायन

पेरिस में एक समारोह किया गया था जिसमें कि जनरल दि गौल ने सर विन्स्टन चर्चिल को मुक्ति का पदक समर्पित किया। यह एक इस प्रकार का महान् आदर है जो कि फ्रान्स में बहुत कम लोगों को प्रदान किया जाता है। मुक्ति के पदक की भेंट के पश्चात् सर विन्स्टन चर्चिल बोलने के लिए खड़े हुए। उन्होंने कहा ? “मैं आज अपना भाषण अंग्रेजी में दूँगा। मैंने पेरिस में अपने भाषण प्रायः फ्रेंच में दिए हैं। परन्तु वह युद्ध का समय था और मैं आपको उन भयानक दिनों के कष्टों का स्मरण नहीं दिलाना चाहता।”

सर विन्स्टन चर्चिल से फ्रीड मार्शल मौण्टगुमरी के संस्मरण पुस्तक के सम्बन्ध में पूछा गया जिसकी बिक्री २४ लाख रुपये से ऊपर हो चुकी है— सर विन्स्टन चर्चिल ने उत्तर दिया : “फ्रीड मार्शल मौण्टगुमरी ने ब्रिटिश सेना की श्रेष्ठ पर—स्मराओं के अनुसार कार्य किया है। उन्होंने अपने जीवन को बहुत अधिक महंगा बेचा है।”

पाणिनि की 'वर्ण'-व्यवस्था

'महाभाष्य' के उद्भाषक महामुनि पतञ्जलि ने सूत्रकार को भदा 'आचार्य' कह कर याद किया है— 'आचार्य एवाह'—आचार्य (सूत्रकार पाणिनि) ने ही कहा है। पतञ्जलि की दृष्टि में संस्कृत व्याकरण के एक मात्र आचार्य हैं पाणिनि। उसी लिए 'आचार्य' मात्र शब्द से स्मरण; 'आचार्य पाणिनि' आदि नहीं।

'महाभाष्य' न केवल व्याकरण का, वरन भाषा विज्ञान का भी समुद्र है। पतञ्जलि के शब्द ज्ञान की कोई इयत्ता नहीं है। वे ही पाणिनि को भदा आचार्य कह कर स्मरण करते हैं। अगाधारण महत्त्व है और यह महत्त्व उनके महान् अध्यवसाय को देखते आधिक नहीं है। जिन लोगों ने पाणिनि के 'सूत्र' देखे हैं, वे ही समझ सकते हैं कि चीज क्या है। संसार में कहीं भी किसी भी भाषा का कोई वैय्याकरण आज तक ऐसा सामने नहीं आया, जो पाणिनि के सामने ठहर सके। आगे भी ऐसी संभावना नहीं कि कभी कोई उनके समकक्ष पैदा होगा।

हम यहाँ पाणिनि की 'वर्ण'-व्यवस्था पर कुछ कहेंगे।

पाणिनि से बहुत पहले लोग 'ऋ' का अमली उच्चारण भूल चुके थे और यही उच्चारण (पाणिनि के समय) था, जो आज है—'रि' जैसा, या फिर 'रु' जैसा। उत्तर भारत में 'ऋ' का उच्चारण 'रि' जैसा होता है और महाराष्ट्र गुजरात में 'रु' जैसा। यानी 'र' का उच्चारण समाविष्ट है, जो कि पाणिनि के समय में भी था। इसी लिए 'ऋ' में द्विवर्णता मानी गई है—एक व्यंजन (र) और दूसरा स्वर। स्वर फिर 'ऌ' निकलेगा! ता, यह उच्चारण अमली कहाँ रहा? अ, इ, उ, स्वरों में द्विवर्णता कहाँ है? द्विवर्णता में तो स्वयंत्व रहता ही नहीं। प्रत्येक ध्वनि की अलग व्यवस्था है। 'अ' 'इ' 'उ' का उच्चारण किसी भी भिन्न स्वर-व्यंजन के योग से संभव है क्या? उसी तरह क्, ग्, ज्ञ्, आदि व्यंजन भी वर्णान्तर के योग से नहीं बन सकते। किसी भी स्वर और व्यंजन के योग से इनकी ध्वनि नहीं निकल सकती। दो स्वरों के योग से कोई पृथक्

संयुक्त स्वर संभव है—ए ऐ, ओ औ। इसी तरह 'अल्प प्राण' व्यंजन 'महाप्राण' बन जाते हैं, यदि उन्हें महाप्राण 'ह' का सहयोग मिल जाए—

क, च, ट, त, प

हो जाते हैं—

ख, छ, ठ, थ, फ

और—

ग, ज, ड, द, ब

बन जाते हैं—

घ, भ, ढ, ध, म

यानी 'महाप्राण स्पर्श' वर्ण 'संयुक्त व्यंजन' हैं; जैसे कि ए, ऐ ओ, औ संयुक्त स्वर हैं। पृथक् औ स्वतन्त्र ध्वनि बन जाने से लिपि में पृथक् संकेत। परन्तु क, का, कि, कु आदि में 'क्' की ध्वनि पृथक् सुनाई देती है और अ, आ, इ, उ की पृथक्-पृथक्। इस लिए 'क' 'का' आदि में द्विवर्णता स्पष्ट है; परन्तु ए, ऐ, ओ, औ तथा ख, घ, ध आदि में 'क' आदि की तथा 'ह' की ध्वनि में पार्थक्य नहीं है; यद्यपि विश्लेषण से दो ध्वनियों निकलेगी। इसी लिए इन्हें 'संयुक्त वर्ण' कहते हैं। का, की कू आदि में वैसा ध्वनि-सम्मिश्रण नहीं है। स्वर के साथ स्वर और व्यंजन के साथ व्यंजन मिल कर 'संयुक्त ध्वनि' बनाते हैं।

परन्तु 'रि' तथा 'रु' में व्यंजन और ध्वनि का पृथक् उच्चारण-श्रवण है। इस लिए इसे एक-ध्वनि (एक वर्ण) नहीं कह सकते। निश्चय ही 'ऋ' स्वर का कोई स्वतन्त्र उच्चारण रहा होगा और वह वैदिक युग तक विद्यमान भी होगा, पर आगे लोग भूल गए। भाषा का विकास सब कुछ करता है।

तो भी 'कृतम्' 'पितृभक्तिः' 'ऋतुः' आदि शब्दों में वह स्वर अनुस्यूत रहा। ऐसे सदृशः शब्दों को पाणिनि बदल न सकते थे। वैय्याकरण शब्द बनाता नहीं, वनका अन्वाख्यान भर करता है। वह लिपि-संज्ञिवेश भी नहीं बदलता। वैसे करने से पुराना सब साहित्य धूल में मिल जाए। उच्चारण भूल जाने पर भी 'ऋ' स्वर-संकेत लिपि में चल रहा था और पाणिनि

ने उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया।

परन्तु एक स्वर तो सर्वथा उड़ गया था, जो आज 'लृ' जैसा लिखा जाता है। 'लृ इ' का उच्चारण है 'लृ' का। यानी 'ऋ' में द्विवर्णता, ता 'लृ' में त्रिवर्णता। परन्तु इस स्वर का उच्चारण ही लोग भूल गए हों सो बात नहीं; वर्ण-प्रयोग भी नहीं रहा। वेद-रचना जिन मूल भाषा में हुई, उसका विकास सदियों वर्षों में हो पाया होगा। आद्य स्थिति में कुछ शब्द भाषा में ऐसे चलते होंगे, जो उस 'स्वर' से बोले जाते होंगे, जिनके लिए 'लृ' आज हम देखते हैं। परन्तु वेद-रचना के समय तक ये शब्द लुप्त हो गए; या शब्दों से वह स्वर लुप्त हो गया; पर 'ऋ' बना रहा। वेदिक तथा लौकिक संस्कृत में एना शब्द प्रयोग नहीं मिलता जिनमें 'लृ' स्वर हो; परन्तु 'ऋ' है; संस्कृत में ही नहीं, हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में भी है। 'ऋ' के बिना संस्कृत में काम ही नहीं चल सकता और हिन्दी आदि का संस्कृत में अन्वेष्य सम्बन्ध है; इस लिए यहाँ भी उसकी सत्ता है। उच्चारण तो विसर्गों का भी 'ह' जैसा ही होता है; परन्तु संस्कृत में 'रामः गच्छति' की जगह 'रामह गच्छति' करें, तो अर्थ ही न निकलेगा। इसी लिए 'पायः' आदि शब्द हिन्दी में भी विसर्ग सही चलते हैं। वर्तनी (स्पेलिंग) बदल देने से संपूर्ण पुराना साहित्य हाथ में चला जाए; इसी लिए अंग्रेजों की वेदंगी वर्तनी भी अंग्रेज लोग ज्यों की त्यों बनाए हुए हैं। हम तो केवल 'ऋ' और विसर्गों का उच्चारण ही भूलें हैं।

हाँ, उस 'लृ' का प्रयोग एक दम उड़ गया। तो भी पाणिनि ने अपने (संस्कृत-नागरी लिपि के) 'वर्ण-समाप्ताय' से (वर्णमाला में) उसे हटाया नहीं। ए-याद भग कि हमारी मूल भाषा में कुछ शब्द ऐसे भी थे जो 'लृ' स्वर में चलते थे। यह स्मृत भाषा विज्ञान के लिए बड़े काम की है।

पाणिनि ने 'ऋ लृ' (कृ) रूप में 'ऋ' के साथ ही 'लृ' को रखा है। परन्तु जब 'लृ' का कहीं उपयोग ही नहीं, तो उसे भाषा में बलात् ढूँढ़ने का प्रयत्न भी पाणिनि ने नहीं किया। 'कृत्यते' 'कृतम्' आदि प्रयोग पाणिनि के सामने थे। इनके लिए 'कृप्' धातु मान लेना सरल काम था; मले ही यहाँ स्वर 'लृ' न मही; 'ऋ' सही। यानी 'कृ लृ ऋ' का संयोग 'कृ' समझा

जा सकता था और 'कृप्' धातु ('ऋ-युक्त') से 'कृत्यते' 'कृतम्' आदि प्रयोग बिना किसी संशय के अन्वाख्यात हो सकते थे। परन्तु पाणिनि ने साचा कि इससे 'लृ' का भ्रम होगा। लोग 'कृप्' को 'लृ' स्वर से समझने लगेंगे, जिन का प्रयोग भाषा में एकदम उठ गया है। तो फिर 'लृ' का भ्रम खड़ा करना ठीक नहीं। इसलिए पाणिनि ने 'कृत्यते'—'कृप्' आदि प्रयोगों के लिए—'कृप्' धातु माना।

'कृप्' का ऊँ नङ् के 'कृप्' मात्र रह जाता है। परन्तु इससे तो 'कृत्यते' 'कृतम्' जैसा प्रयोग बनते, जो चालू नहीं। प्रयोग का लृ थे—'कृत्यते'—'कृतम्' आदि। इस समस्या का समाधान पाणिनि ने एक सूत्र बना कर किया—

“कृपा रो लः”

इसका अर्थ 'महाभाष्य' में, 'काशिका' में और और मवेत्र यह किया गया है कि—

'कृप्' धातु से 'ऋ' वर्ण में जो 'र' जैसी ध्वनि है, उसकी जगह 'लृ' जैसी ध्वनि प्रयुक्त की जाए।

इस तरह 'कृत्यते'—'कृतम्' आदि प्रयोग सिद्ध किए। यह भी नहीं कहा कि 'ऋ' को 'लृ' हो जाए। र जैसी ध्वनि की जगह 'लृ' जैसी ध्वनि हो। 'ऋ' की जगह 'लृ' करना होता, तो मीध धातु ही कृप् रख लेते न। परन्तु उन्हें तो 'लृ' के भ्रम में बचाना था। पाणिनि ने जानसा कि 'ऋ' की र जैसी ध्वनि की जगह लृ जैसी ध्वनि प्रयुक्त की जाए और अपने ही इस नियम के अनुसार उन्होंने फिर 'कृप्' की जगह कृप् का ही प्रयोग किया है; पर धातु वही 'कृप्'।

पाणिनि ने बहुत स्पष्ट मार्ग अपनाया है। कोई आगे 'कृप्' धातु ही भ्रम से समझ ले तो। इस का भी सम्बन्ध है। पाणिनि का एक सूत्र है :

“ऋदुपधाच्चाकृत्पच्यते”

इसका अर्थ यह कि जिन धातुओं में अन्य व्यञ्जन से पूर्व 'ऋ' स्वर है, उन से 'कृत्य' प्रत्यय होता है; परन्तु 'कृप्' तथा 'च्यते' इन दो धातुओं को छोड़ कर। सूत्र में 'अकृत्प' है, यानी 'कृप्' को छोड़ कर। यह 'कृत्प' प्रयोग है, 'कृप्' के लिए, अपने उस (कृपो रो लः) सूत्र के अनुसार; परन्तु इस 'कृत्प' से मूलतः (धातु) पाणिनि ने 'कृप्' ही माना है और तभी तो यहाँ अपवाद में रखा। यदि 'लृ' स्वर होता, तो

‘अकल्पि’ कह कर मना करने की जल्जल ही क्या थी ? ‘ऋदुपय’ धातु से ‘कल्प’ का विधान है, ‘ऋदुपय’ से नहीं। यदि ‘कल्प’ आदि की धातु ‘ल्’ स्वर में होती, तो पाणिनि उसे यहाँ ‘ऋदुपय’ क्यों कहते ? ‘ऋदुपय’ का अर्थ है जिसके अल्प व्यंजन में पूर्व ‘ऋ’ हो।

पाणिनि ने इनकी पावधानी धरती है और इनकी स्पष्टता की है। फिर भी कोई ‘कल्पते’ ‘कल्प’ आदि में ‘कल्प’ धातु मानता है, तो मानना पड़ेगा कि वह आचार्य पाणिनि का संशोधन करता है और यदि ऐसी शक्ति किसी में है, तो हमारी सरकारों को चाहिए कि

यह संशोधन का महान् कार्य करा लें—मब तरह से मब को मदयोग देना चाहिए, जिससे कि ढाई हज़ार वर्ष पहले बने पाणिनीय व्याकरण का सुव्यवस्थित संशोधन हो जाए। यह इस युग का एक बहुत बड़ा काम होगा। क्या पाणिनि से शलती नहीं हो सकती ? ‘कल्प’ में जब ‘ल्’ स्वर दिखाई दे रहा है, तब उसका अपलाप करके ‘कृप्’ मानने में इस युग का भाषाविज्ञान कैसा मदमत हो ? विचारणीय विषय है। एक बहुत बड़े विद्वान (?) ने कहा है कि ‘कल्पते’ ‘कल्प’ आदि में ‘कल्प’ धातु है।

हिमालय एजेन्सी,
कनखल (न० प्र०)

—किशोरीदास बाजपेयी

दखनी बोल

जहाँ बन्द है वहाँ आज़ादी
हर राम के पीछे शादी

बात कने कूँ बात कते
बले अपनी बात नहीं रहते

खुशी उजाला, राम अँधेरा,
क्या करे यहाँ आदमी बेचारा

हरक का सवाद है उस ठार,
जो दो तरफ़ ते उबलता प्यार

न किसी की धाक, न किसी का डर,
कते च हैं कि अपना घर, खुशी आप सो कर

—‘सबरस’ से संगृहीत
संग्रह : कलित। देवी

हैदराबाद,

हिन्दी और तेलुगु के व्याकरण पर एक दृष्टि

हिन्दी और तेलुगु अलग अलग परिवारों की भाषाएँ हैं। हिन्दी संस्कृत की आत्मजा है तो तेलुगु द्राविड़ परिवार से सम्बन्धित। द्राविड़ परिवार की होने पर भी तेलुगु भाषा के मातृत्व और व्याकरण पर संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। हिन्दी और तेलुगु व्याकरणों के अध्ययन में समानताओं की अपेक्षा विभिन्नताएँ ही अधिक मिलेंगी। फिर भी दोनों भाषाओं के व्याकरणों का तुलनात्मक अध्ययन रोचक है—इसी दृष्टिकोण से यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

तेलुगु के सर्वमान्य व्याकरणों में 'बाल व्याकरणमु' और 'प्रौढ़ व्याकरणमु' मुख्य हैं। ये व्याकरण ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण पर ही आधारित हैं। उनमें वर्गोक्त, विश्लेषण आदि सब पाणिनि के अनुसार ही किए गए हैं। पाणिनि और कात्यायन के सूत्रों के समान ही सूत्रों में निबन्धित नियमों से युक्त, शास्त्रीय पद्धति पर रचे गए हैं ये ग्रन्थ। 'बाल व्याकरण' में संज्ञा, संधि, तत्सम, आच्छिन्न, कारक, समाम, तद्धित, क्रिया, कृदन्त और प्रकीर्णक नाम से दस परिच्छेद हैं।

तेलुगु के उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों को, श्रीगण्टि जोगी सोमयाजी ने अपनी पुस्तक 'आन्ध्र भाषा विकासमु' में चार-पाँच समूहों में विभक्त किया है। 'आन्ध्र शब्द चिन्तामणि' (नक्षत्रभट्ट रचित)¹, 'बाल सरस्वतीयमु', 'अपकवीयमु, अहोबल पंडितयमु', 'आन्ध्रकौमुदी सूत्रान्ध्रव्याकरणमु' आदि व्याकरण के ग्रन्थों में व्याकरण के नियमों का उल्लेख और उन पर टीका है। ये ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण पर ही आधारित हैं। 'आन्ध्र भाषा भूषण', 'काव्यालंकार चूडामणि', 'कावलीक चिन्तामणि', 'मवेल्लुण सार संग्रह' आदि ग्रन्थों में छन्द और अलंकार की चर्चा अधिक और व्याकरण संबंधी नगण्य सामग्री है। तीसरे वर्ग में गद्य सूत्रों के रूप में रचित व्याकरण के ग्रन्थ हैं। वास्तव में ये ही ग्रंथ तेलुगु की प्रकृति का परिचय देने वाले उपयोगी व्याकरण ग्रन्थ हैं। 'बालव्याकरणमु', 'प्रौढ़ व्याकरणमु', 'बाल-

व्याकरण गुप्ताथ प्रकाशका' आदि इस कोटि में आते हैं। श्री कैम्पबेल, श्री ब्राउन, श्री आर्टेन के लिखे हुए व्याकरण ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे गए हैं, जो अन्य भाषा-भाषियों को तेलुगु सीखने में काम देते हैं। कुछ इस प्रकार के तुलनात्मक व्याकरण हैं जिनमें द्राविड़ी परिवार की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इनमें विशेष कावडवेल का 'A Comparative Grammar of Dravidian languages' विशेष उल्लेखनीय है।

वर्ण विचारः हिन्दी और तेलुगु की वर्णमाला का आधार बहुत कुछ संस्कृत वर्णमाला ही है। जो थोड़ा बहुत अन्तर है, वह निम्न प्रकार का है :

हिन्दी स्वरः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ।

तेलुगु स्वरः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ, औ।

हिन्दी व्यंजनः

क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ

ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न

प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह

तेलुगु व्यंजनः

क, ख, ग, घ, ङ, च, च, ज, ज, झ, ञ

ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न

प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, ल, व, श, ष, स, ह

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी में ए, ओ, दीर्घ और संयुक्त स्वर हैं जबकि तेलुगु में वे स्वतन्त्र स्वर हैं और उनके हस्वरूप भी हैं। जिनके लिए अलग लिपि चिह्न हैं। (२) तेलुगु में र (ॐ) और ल (ॐ) अधिक हैं। (३) च और ज का दन्त्य उच्चारण भी होता है। (४) तेलुगु में 'ऋ' का उच्चारण 'रु' की तरह होता है और हिन्दी में 'रि' की तरह। (५) 'श' और 'ष' के उच्चारण में अन्तर है (६) तेलुगु की अपनी विशेषता 'अजन्त' होना (प्रत्येक शब्द के अन्त में स्वर का

होना और अन्य स्वर का पूर्णोच्चारण होना है। (७) हिन्दी और तेलुगु में संयुक्ताक्षर लिखने के ढंग में भी काफ़ी अन्तर है। हिन्दी में पहला अक्षर आधा लिखा जाता है और दूसरा अक्षर पूरा और दूसरे का चन्द् मात्र।

सन्धि : हिन्दी में संधि के नियम संस्कृत की तरह तेलुगु के अपने विशिष्ट नियम हैं। तेलुगु में वाक्य के मध्य में कभी भी स्वर का प्रयोग स्वतन्त्र रूप में—नहीं हो सकता। वह स्वर, अपने से पहले के व्यंजन के साथ-सन्धि के नियमों के अनुसार-मिलाया जाता है।

शब्दविचार : हिन्दी में, अंग्रेज़ी व्याकरण के अनुसार शब्द के आठ भेद माने गए हैं, पर तेलुगु में पाँच ही। यथा विशेष्य, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया और अव्यय। कुछ विद्वान् तटन्त और सुबन्त भेद मानने के पक्ष में हैं तो कुछ नाम, क्रिया और अव्यय के पक्ष में। शब्द के पाँच भेद मानना ही अधिक मान्य है।

सर्वनाम : हिन्दी में अन्य पुरुष सर्वनाम का लिंगभेद क्रिया के रूप द्वारा ही जाना जा सकता है जब कि तेलुगु में अन्य पुरुष सावैनामिक शब्दों में लिंग के अनुसार भेद है। जैसे हिन्दी का 'वह'—That, he, she or it के लिए प्रयुक्त होता है तो तेलुगु में आदि, वाडु, आमे अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं।

उत्तम पुरुष बहुवचन (हम) के दो रूप हैं, मनमु, मेमु। 'मनमु' में वक्ता श्रोता का भी अपने में मिला होता है तो 'मेमु' में श्रोता को छोड़ कर—ऐसा अर्थ-बोध होता है। यह द्राविड पारिवार की सभी भाषाओं में है, पर आर्य परिवार की भाषाओं में नहीं। इसी के वजन पर, बोलचाल की हिन्दी में 'अपन' शब्द का प्रयोग होता है।

सर्वनामों के वर्गीकरण में भी अन्तर है। हिन्दी में पुरुष, निज, निश्चय, अनिश्चय, सम्बन्ध, प्रश्न-वाचक सर्वनाम हैं तो तेलुगु में निश्चय, अनिश्चय और निजवाचक सर्वनाम नहीं हैं।

विभक्तियों के आगमन से सर्वनामों के रूप में परिवर्तन दोनों भाषाओं में पाया जाता है।

तेलुगु में निजवाचक 'अपना' का प्रयोग नहीं के बराबर है। केवल अन्य पुरुष में ही इसका प्रयोग दिखाई पड़ता है।

तेलुगु में सम्बन्ध वाचक 'जो' का प्रयोग तो होता ही नहीं। सम्बन्धवाचक के साथ वाक्य रचना तेलुगु की

प्रकृति के विरुद्ध है।

लिंग : हिन्दी में दो ही लिंग हैं। लिंग के सभी नियम अपवादों से भरे पड़े हैं। तेलुगु में लिंग भेद के नियम प्राचीन तमिल व्याकरण के समान हैं। मनुष्य अथवा देवतावाची शब्दों को महत्वाचक और उनके स्त्री वाचक शब्दों को महतीवाचक मानते हैं, अन्य तिर्यक् और जड़ वाची सभी शब्द अहमत्वाची। आज-कल स्त्री, पुं, नपुंसक के भेद को मानने की ओर अधिक झुकाव है।

वचन : दोनों भाषाओं में दो ही वचन हैं। हिन्दी में एक वचन से बहु वचन बनाने के जितने नियम हैं, तेलुगु में उतने नहीं। प्रायः सभी शब्दों के अन्त में 'लु' लगा कर बहुवचन बनाया जाता है।

कारक : दोनों भाषाओं में कारकों की संख्या समान है। इन प्रत्ययों को स्वतन्त्र शब्दों के घिसे हुए रूप मानते हैं, तेलुगु में यह सब विभक्ति प्रत्ययों पर लागू नहीं होता।

(१) प्रथमा विभक्ति—डु, मु, लु (संस्कृत शब्दों के साथ इन प्रत्ययों को जोड़ कर प्रथमा विभक्ति का रूप बनाया जाता है। उदा० : रामः शब्द के साथ 'डु' जोड़ कर 'रामुडु' शब्द बनता है। 'ने' जैसा कोई प्रत्यय तेलुगु में नहीं है।

२. द्वितीया विभक्ति—अन, लु

३. तृतीया विभक्ति—चेत, चे, तोड, तो

४. चतुर्थी विभक्ति—कै, कोङ्कु (तमिल में 'कई' हाथ को कहते हैं। विद्वानों का कथन है 'कै' शब्द 'कड' से निकला है।

५. पंचम विभक्ति—वलन वटे

६. षष्ठी विभक्ति—क, कु, थोकक

७. सप्तमी विभक्ति—ला, लोपल, अंदु, न

८. संबोधन प्रथमा विभक्ति—ओ, ओसी, ओरी, आदि।

हिन्दी में प्रत्यय जुड़ने पर आकारान्त शब्द एकारान्त में परिवर्तित हो जाते हैं। अन्य अपरिवर्तित रहते हैं। बहुवचन में सभी शब्दों के अन्त में 'ओ' लगता है। तेलुगु में सभी शब्दों के अन्त में 'नि' लगता है। (डुकारान्त में 'डु' का लोप होकर 'नि' लगता है।) उदा० : रामुडु+वलन=रामुनिवलन। बहुवचन में 'लु' का 'ल' हो जाता है।

विशेषण : तेलुगु में विशेष्य के लिंग-वचनानुसार विशेषणों में कोई परिवर्तन नहीं होता। उदा० : मंचि बालुडु (अच्छा लड़का) मंचि बालिका (अच्छी लड़की)।

संख्यावाचक विशेषणों में क्रम की भिन्नता है। हिन्दी में बाईस (twenty two) नहीं पर two twenty) यानी दो पर बीस होता है। पर तेलुगु में 'इरुवदिरेडु' यानी बीस पर दो होता है। (हैदराबाद में अशिक्षित लोग बीस पर एक, बीस पर दो, माठ पर पाँच ऐसे ही बोलते हैं।)

हिन्दी में जहाँ 'वो' प्रत्यय जुड़ता है, वहाँ तेलुगु में हर संख्या के साथ 'अव' प्रत्यय जुड़ता है। उदा० :

'ओकटव' (पहला) 'रेडव' (दूसरा) 'मूडव' (तीसरा) आदि।

'त', 'तम' प्रत्ययों की जगह हिन्दी के समान ही 'मे' (कंटे) और 'मब मे' (आजकंटे) का ही प्रयोग होता है।

क्रिया पद : तेलुगु के सभी धातु उकारान्त ही हैं। उदा० : वल्लु, तनु, वेल्नु आदि।

नामवाचक के साथ 'इंचु' प्रत्यय जोड़कर भी क्रियापद बनाते हैं। उदा : 'प्रेम' से 'प्रेमिंचु'।

'उंडु' (to be) का रूप वर्तमान, भूत, भविष्यत् में निम्न प्रकार का होगा :

वर्तमान

एकवचन
नेनु उन्नानु (मैं हूँ)
नीवु उन्नानु (तुम हो)
वाडु उन्नानु }
आदि उन्नानु } (वह है)
आमे उन्नानु }

बहुवचन
मेमु उन्नानु (हम हैं)
मीरु, तमरु उन्नानु (आप हैं)
वारु उन्नानु }
आवि उन्नानु } (वे हैं)
वारु उन्नानु }

भूतकाल

नेनु उंटानु (मैं था)
नीवु उंटानु (तुम थे)
वाडु उंटानु }
आदि उंटानु } (वह था या थी)
आमे उंटानु }

मेमु उंटानु (हम थे)
मीरु, तमरु उंटानु (आप थे)
वारु उंटानु }
आवि उंटानु } (वे थे या थीं)
वारु उंटानु }

भविष्यत् काल

नेनु उंडेदनु (मैं हूँगा)
नीवु उंडेदनु (तुम होंगे)
वाडु उंडेदनु }
आदि उंडेदनु } (वह होगा या होगी)
आमे उंडेदनु }

मेमु उंडेदनु (हम होंगे)
मीरु, तमरु उंडेदनु (आप होंगे)
वारु उंडेदनु }
आवि उंडेदनु } (वे होंगे या होंगी)
वारु उंडेदनु }

ऊपर के विवरण में ध्यान के योग्य बातें ये हैं कि वर्तमान काल में सर्वनाम का अन्तिम अक्षर ही क्रिया

पद का अन्तिम आधार है। भूत और भविष्यत् में प्रथम, और द्वितीय पुरुष में ही ऐसा है। अन्य पुरुष में समानता

नहीं है। अन्य पुरुष में महती और अमहत् वाचक के (एक वचन में) रूप समान हैं। जैसे अदि, नञदि (It is) और आमे उञदि (She is) अन्य पुरुष में ही, बहुवचन में, महत् और महती वाचक रूप समान हैं तो अमहत् का रूप भिन्न है। यथा वारु उंढरि (वे थे) और वारु उंढरि (वे थीं)।

सामान्य : परोक्ष कथन (Indirect speech) में तेलुगु की वाक्य रचना, हिन्दी से विलकूल उलटी होती है। उदाहरण के लिए :

‘राम ने कहा कि वह आया’ का तेलुगु में रूप होगा : ‘नेनु वस्ताननि रामुडु चेप्पेनु’। (मैं आऊँगा कह कर राम ने कहा)

तेलुगु में भाव वाच्य का प्रयोग नहीं होता।

क्रिया में नकारात्मकता को सूचित करने के लिए ‘न’ जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। अलग से क्रिया रूप है। जैसे : चदुवनु (नहीं पड़ता), तिननु (खाता है) तिनडु (नहीं खाता)।

सभी शब्दों को ‘कला’ और ‘द्रुतप्रकृतिक’ दो रूपों में विभक्त करते हैं। नकारान्त शब्द द्रुतप्रकृतिक कहलाते हैं। जिनके अन्त में ‘न’ न हो वे सब ‘कला’ हैं। यह विभाजन संघ के परिच्छेद में बहुत काम आता है।

क्रिया में सर्वनाम का रूप परिलक्षित होता है। जैसे रामुडु उञाडु (राम है), अदि उञादि (वह है) सार्वनामिक शब्द का अन्तिम अक्षर और क्रियापद का

का अन्तिम अक्षर समान हैं।

अन्त में द्राविड परिवार की भाषाओं की विशेषताओं की ओर विशेष कर तेलुगु के पाठकों का ध्यान आकर्षित कर डम लेख को समाप्त किया जाता है :

१ प्रायः सभी शब्द स्वरांत होते हैं और अन्तिम स्वर का पूर्ण उच्चारण होता है।

२ ए, ओ का ह्रस्व उच्चारण और च, ज का दन्त्य उच्चारण होता है।

३ महत्, महती और अमहत् वर्गीकरण के अलावा, सरी अचेतन वस्तुओं को नपुंसक माना जाता है जिनका क्रिया रूप अमहत् जैसा होता है।

४ अन्य पुरुष में लिंग के अनुसार अलग अलग शब्द होते हैं।

५ विशेष्य के अनुसार विशेषण का रूप नहीं बदलता।

६ उत्तम पुरुष बहु वचन के दो रूप होते हैं। ‘मनमु’ श्रोता सहित तो ‘मेमु’ श्रोता रहित।

७ सम्बन्ध वाचक और निजवाचक सर्वनामों का प्रयोग नहीं होता।

८ भाववाचक का प्रयोग नहीं होता।

९ क्रिया में सर्वनाम का रूप परिलक्षित होता है।

१० क्रिया के अन्त में ‘अडु’ प्रत्यय जोड़ कर बनाते हैं, अलग से न या नहीं जोड़ने की आवश्यकता नहीं।

हैदराबाद

—भीमसेन निर्मल

कला की आत्मा

वास्तविक लेखन-कला शैली में नहीं है; खाम तौर पर, जान बूझ कर नकल की गई शैली में जो या तो कान द्वारा अपनाई जाती है या आँख द्वारा। वास्तविक लेखन कला तो इसमें है कि आप के पास कुछ कहने के लिए हो; आप उसे कह देने के लिए व्याकुल हो रहे हो और साफ तौर पर कह दें। यह वास्तविकता, यह ईमानदारी और केवल यही मेरी सम्मति में कला की आत्मा है।

—रोम्यो रोलाँ

राबर्ट ग्रेव्स : एक परिचय

आधुनिक अंग्रेजी-कविता में राबर्ट ग्रेव्स का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अनुभूति का व्यापक क्षेत्र और वाद-मुक्त भरातल पर काव्य-सृजन—उनकी दो प्रमुख विशेषताएँ कही जा सकती हैं। पहली दृष्टि में वह गीतमय काव्य-भरातल के आशय निरुद्ध प्रतीत होते हैं। किसी भी काव्यान्दोलन में अपने को तटस्थ और अप्रयुक्त रखने की उनकी मनोवृत्ति उन्हें एक वाशष्ट व्याक्त्य पदान करती है। ग्रेव्स का काव्य को हम 'विशुद्ध-काव्य' कह सकते हैं।

राबर्ट ग्रेव्स का जन्म लन्दन में सन् १८९५ में हुआ उन्होंने चार्टर हाउस और मन्ट ज्ञानम कालेज, आक्सफोर्ड में शिक्षा पाई। प्रथम विश्व युद्ध में वह फ्रान्स में रायल वेल्श फ्यूमालयर्स में सैनिक रहा। इक्कीसवीं वर्ष गौड के दिन उनके विषय में एक शालत विज्ञप्ति प्रकाशित हुई कि वह घायल होकर मर गए। उसके बाद आक्सफोर्ड में अंग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन कर वह काहिगा में एक वर्ष के लिए अंग्रेजी साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त हुए। 'गुडबाइ टु आल डेड' नामक आत्म कथा में उन्होंने अपने इस समय के जीवन पर बहुत प्रकाश डाला है। साथ ही उसमें काव्य पर पड़े युद्धोत्तर प्रभाव का भी वर्णन है जो वास्तव में उनकी दूरी आस्था का परिचायक है ग्रेव्स का विश्वास इस समय समस्त अंग्रेजी मृत्यों पर स हट गया था। १९२६ में वह टंग्लेराड का छोड़ कर मैलार्का में स्थाई रूप से रहने लगे। यहीं में उनके काव्य साहित्य का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है; जैसे इसके पूर्व सन् २५ में उनकी छे पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थी। मैलार्का में लोरा राडिङ के सहयोग में उन्होंने काव्य-सेवा की। अमरीकी कवयित्री लोरा राडिङ पर ग्रेव्स के काव्य की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। उनकी अधिकांश कविताएँ ग्रेव्स से प्रभावित हैं। ग्रेव्स की ख्याति उनकी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'आइकलांडियस' के कारण अधिक है जिस पर उन्हें 'दावथोर्डन पुरस्कार' मिल चुका है। अभी तक उनके तीन काव्य-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। 'वर्क इन हेन्ड' (१९४२) में

एलन होज और नोर्मन कैमरोन के साथ उनकी कविताएँ संकलित हैं। 'कविताएँ १९३८-४५' दूसरा संग्रह है। तीसरा संकलन पोयम्स एण्ड मटार्स १९५१ है।

राबर्ट ग्रेव्स भावी पीढ़ी के लिए रचना न कर समकालीन समाज के लिए लिखते हैं। उन्होंने १९५१ की संशुद्ध कविताओं की भूमिका में लिखा है "व्यक्तिगत रूप में, मुझे भावी पीढ़ी का बहुत कम खयाल है या कम से कम मैं उनकी साहित्यिक-आभरुचि का अनुमान लगाने की चेष्टा नहीं करता।"

ग्रेव्स की पाया-प्रत्येक कविता में द्वन्द्वात्मक-विषय की उपलब्ध होती है। प्रेम और मृणा, प्रेम के दो विरोधी पक्षों, अज्ञान और अनुभूति या वर्तमान और अतीत का संघर्ष उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस संघर्ष का भरातल कहीं कहीं पर बर्तनों-काया है। 'वार्निंग टु चिन्ड्रेन' और 'लालोक्स' कविताएँ इसके प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। दूसरे मानव-जीवन की दुर्बलताओं और अभावों के प्रति उनमें मृतानुभूति प्रदर्शित हुई है—समग्र रूप से सम्पूर्ण मानवता के प्रति उनमें मोह है।

उनकी काव्यानुभूति का क्षेत्र व्यापक है। रोमांटिक-प्रणय-कविताओं के आतिरिक्त गंभीर विचार तत्त्व से प्रेरित रचनाएँ और हल्के विनोदपूर्ण व्यंग्य भी उनमें अनुपलब्ध नहीं हैं।

नीचे हम उनकी तीन कविताओं के अनुवाद दे रहे हैं।

१. स्पन्दन की गणना

"तुम, प्रिये और मैं
तुम और मैं
(उसने कहा कान में)
और अगर सिर्फ तुम और मैं
फिर क्यों चिन्तित तुम या मैं
गिनते हुए स्पन्दन को
हृदय के धीमे स्पन्दन को
समय की शनैः मृत्यु को इस धीमे स्पन्दन में

जागृत वे हैं पड़े
 यह शुभ्र दिन
 रात्रि और यह शुभ्र दिन:
 पर उन पर संभावित गिरेगा एक दिन
 तीखे आसमान से
 हम कहाँ होंगे,
 (वह कहती है कान में)
 यह कहाँ होंगे,
 मौत के आगमन पर
 अरे हम तब कहाँ होंगे ?
 हम और तुम कौन थे ?
 वहाँ नहीं पर यहाँ,
 (उमने कहा कान में) केवल यहाँ,
 जैसे हम, यहाँ, अब एक साथ हैं,
 सदा तुम और हम
 गिनते हुए स्पन्दन को
 हृदय के धीमे स्पन्दन को
 समय की शनैः सृत्यु को इस धीमे स्पन्दन में
 जागृत वे हैं पड़े’

दूमरी कुर्सी
 जोड़े की
 अपनी पीठ पर लेटी है
 निश्चल जैसे व्यथा में
 उलटी हो जैसे क्रोध के धक्के से
 और वहाँ सुबह तक, आह, उसे रहना है
 छज्जे पर
 कोई रक्त-चिह्न नहीं
 कोई दुखद चमक नहीं
 चाकू की, कुछ नहीं
 लघु टुकड़े तक फटे पत्र के नहीं
 या कि प्रक्षिप्त शारी की अंगूठी की क्षीण चमक
 अब तक स्थिर
 मेज पर
 दो लम्बे गिलास
 एक भरा पेय से
 देखो कैसे चूड़ा है गुजरता अंगूरलता से
 औ’ कैसे है चौद काँपता करार के किनारे’

२. सम्भाषण-खण्ड

“चौदनी रात में
 आधी रात को
 अंगूरलता के नीचे
 एक होटल की कुर्सी
 बैठी है मूड में शीर्षक के सामने
 अब तक मुड़े हुए शाम के अलखार के

३. एक आपद्ग्रस्त कवि के प्रति :

“कुद प्रेयसी और पत्नी उदासीन
 और ऋण ये तीनों ?
 प्रस्तुत हैं तुम्हें मारने को
 कृतज्ञ हो देवी के
 (हमारी क्रूर संरक्षिका)
 इस वरदान पर
 काव्य में तुम्हारे अब सच्ची अभिव्यक्ति है”

३६, माडल हाउस,
 लखनऊ

—शम्भुनाथ चतुर्वेदी

काला अंग्रेज़

किसी व्यक्ति ने जो ब्राह्मण-जाति का था—महात्मा गान्धी से श्रियुत राजगोपाला-
 चार्य की शिकायत की और कहा कि वे ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात करते हैं। गान्धी जी ने
 उत्तर में कहा : “क्या आप श्रियुत राजगोपालाचार्य को ब्राह्मण समझते हैं ? मैं तो
 उन्हें एक Brown Englishman (काला अंग्रेज़) समझता हूँ।”

‘मंगल प्रभात’ से

—काका कालेरकर

प्राचीन भारतीय कला का उद्देश्य

इस जगत् में मत्त्वा सुख प्राप्त करना ही मनुष्य का यथार्थ पार्थिव उद्देश्य है, और मत्त्वा सुख आत्मा, मन और शरीर की स्वाभाविक समस्वता को प्राप्त करने और बनाए रखने में है। भारत का केन्द्रीय विचार यह है कि एक मनातन सत्ता है, एक परम आत्मा है जो यहाँ जब में आच्छादित एवं निवर्तित है तथा इसके अन्दर अन्तर्यामी रूप से सदा विद्यमान है। भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था इसी विचार पर आधारित है; उसका दर्शन इसी को सूत्रबद्ध करता है; उसका धर्म आध्यात्मिक चेतना तथा उसके फलों की प्राप्ति के लिए असीमा-स्वरूप है; उसकी कला तथा उसके साहित्य में यही ऊर्ध्वमुखी दृष्टि पाई जाती है; उसका संपूर्ण धर्म या जीवन-विधान इसी पर प्रतिष्ठित है।

किसी जाति की संस्कृति उसकी जीवन विषयक चेतना की अभिव्यक्ति होती है और वह चेतना अपने-आप को तीन रूपों में प्रकट करती है। उसकी चित्र-कला, उसका काव्य और साहित्य हमारे समक्ष उसकी सम्बोधि, कल्पना, प्राणिक प्रवृत्ति और सृष्टिचम बुद्धि की मूर्जनात्मक अभिव्यक्ति और विशेषता प्रस्तुत करते हैं। हम देख सकते हैं कि जीवन के स्थूल उपादान का कितना अंश उस जाति ने अपने हाथ में लिया है, उसके साथ उसने क्या व्यवहार किया है, किस प्रकार उसने इस उपादान के यथासंभव आधिकृत भाग को अपनी मार्गदर्शक चेतना और सम्भारित आत्मा की किसी प्रतिमूर्ति में परिणत कर डाला है। उसके धर्म, दर्शन, कला और समाज आदि में म कोई भी पीछे अवास्थित आत्मा को पूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं करता किन्तु वे सभी अपने मुख्य विचार और अपनी सांस्कृतिक विशेषता उसी से प्रहण करते हैं। भारतीय कला ने प्रचलित धारणा के विपरीत, जीवन का अत्यधिक चित्रण किया; किन्तु फिर भी उसकी सर्वोच्च सफलता सदैव धर्म्य दार्शनिक मन की व्याख्या के क्षेत्र में ही दिखाई दी, उसकी संपूर्ण शैली आध्यात्मिक एवं अनन्त के संकतों से रंगी रहती थी। प्राचीन भारत में सब प्रकार

की और सब कोटियों की सौन्दर्य विषयक तृप्ति संस्कृति का आवश्यक अंग थी। काव्य, नाटक, गीत, नृत्य और संगीत को, बड़ी और छोटी सभी कलाओं को ऋषियों के द्वारा प्रमाणित रूप में प्रस्तुत किया गया था और आत्मा के उत्कर्ष के साधनों का रूप दिया गया था। भारतीय चित्रकला, मूर्तिविद्या और स्थापत्य ने मनुष्य के सामाजिक, नागरिक और वैयक्तिक जीवन की रसात्मक तृप्ति और व्याख्या की सेवा करने से इनकार नहीं किया; जैसा कि सभी प्रमाणों से प्रकट है, ये चीजें उनके सृजन सम्बन्धी उद्देश्यों का बड़ा भाग थीं, किन्तु फिर भी उनका सर्वोच्च कार्य संस्कृति के महत्तम आध्यात्मिक पहलू के लिए सुरक्षित था और हम देखते हैं कि वे सर्वत्र भारतीय मन के द्वारा किए गए अन्तरात्मा, परमेश्वर, अध्यात्म-सत्ता एवं अनन्त के गम्भीर चिन्तन के दबाव से अधिकृत और ओत-प्रोत हैं।

साहित्य, कला और विज्ञान जीवन की शून्यता में नहीं फूलते-फलते। भारतीय कलात्मक सृजन का संपूर्ण आधार जो कि पूर्णतया सचेतन और शास्त्रमन्मत है, पत्युतः ही आध्यात्मिक और अंतर्ज्ञानात्मक है। यह परंपरागत अन्धविश्वास कि प्रकृत का अनुकरण ही कला का पहला विधान या सीमाकारी नियम है, स्वतन्त्र से स्वतन्त्र कृति को भी नियंत्रित करता था। पाश्चात्य कलात्मक सृजन के नियमों को एकमात्र गही कसौटियों माना जाता था और अन्य प्रत्येक वस्तु को आदिम एवं अर्ध-विकासित या फिर वाचित्र एवं कार्प-निक और केवल अपनी वाचित्रता के कारण ही मनोरंजक समझा जाता था। परन्तु एक अद्भुत परिवर्तन अग्रसर हो गया है, यद्यपि अभी तक अधिकांश में पुराने विचारों का ही प्रभुत्व है। काराग्रह यदि टूटा नहीं है तो उसमें, कम-से-कम, एक चौड़ी दरार जरूर पड़ गयी है; एक अधिक नमनीय दृष्टि एवं अधिक गम्भीर कल्पना ने पुरानी, मज्जागत मनोशक्ति पर अपने-आपको स्थापित करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु भारतीय कलात्मक सृजन के वास्तविक मूल स्रोत और आध्यात्मिक उद्गम को समझने का चिन्ह नहीं के समान है। इस लिए

मतभेद की गहराइयों और उसके कारणों की चाह लेना अभी भी उपयोगी है। स्वयं भारतीय मन के लिए यह विशेष रूप से आवश्यक है, क्योंकि विरोधी दृष्टिकोण के द्वारा प्रेरित मूर्त्योक्तन से वह अपने-आपको अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा और विशेषकर इस बात को अधिक अच्छी तरह पकड़ पाएगा कि भारतीय कला में सारभूत वस्तु कौन-सी हैं जिसपर भावपय में दृढ़ रहना होगा और कौन-सी चीज विकास की एक प्रासंगिक घटना या एक अवस्थामात्र हैं जिस नये सृजन की ओर बढ़ते हुए त्यागा जा सकता है। यह वास्तव में उन लोगों का कार्य है जिनमें स्वयं एक ही साथ सज्जनशील अन्तर्दृष्टि, कलाकारिता की योग्यता और दृष्टिसंपन्न समीक्षक आँख तनो हो। परन्तु जिस किसी भी व्यक्ति में जरा भी भारतीय भाव-भावना है वह कम-से-कम उन मुख्य एवं वन्द्य वस्तुओं का कुछ वर्णन कर सकता है जो उसके लिये भारतीय चित्रकारी, मूर्तिकला और स्थापत्य कला को आकर्षक बनाती हैं।

कला की आलोचना जब उस भाव, लक्ष्य एवं मूल हेतु की उपेक्षा करती है जिससे किसी विशेष प्रकार की कलात्मक कृति का जन्म होता है और जब वह एक सर्वथा भिन्न भाव, लक्ष्य और हेतु के प्रकाश में केवल बाह्य व्योरो के द्वारा ही गुण-दोष की परीक्षा करती है तो वह एक व्यर्थ एवं निर्जिव वस्तु बन जाती है। एक बार जब हम मूल वस्तुओं को हृदयंगम कर लेते हैं, विशिष्ट प्रणाली और भावना में पेंठ जाते हैं, उस भीतरी कन्द्र से रूप और उसकी कार्यान्वित (Execution) की व्याख्या करने में समर्थ हो जाते हैं, तब हम देख सकते हैं कि अन्य दृष्टि बिन्दुओं के एवं तुलनात्मक मन के प्रकाश में वह कैसी दिखाई देती है। तुलनात्मक आलोचना की भी अपनी उपयोगिता है पर यदि उस वस्तुतः मूल्यवान् बनाना हो तो उससे पहले आलोच्य वस्तु के मूल तत्त्व को समझ लेना आवश्यक है। भारतीय मन अपनी स्वाभाविक स्थिति में आध्यात्मिक भाव से भरा होता है—यहाँ तो वह भक्ति के, अवर्णनीय भक्त के वास्तविक उच्छ्वास और अस्तित्व से परिपूर्ण है, और यह बात सच है, यह एक ऐसा संकेत या यहाँ तक कि एक ऐसा सत्योन्मेष है जो बाह्य कृति पर निर्भर रहने के बजाय रूप में से प्रकट हो उठता या उभड़ पड़ता है,—परन्तु यूनानी कृति केवल उदात्तीकृत शारीरिक या ऐंद्रिय आनन्द को ही जाग्रत कर सकती

है। अब, क्योंकि मैं यूनानी मूर्तिकला के भाव के अतंत-स्तल में कुछ-कुछ प्रवेश कर चुका हूँ, इसलिए मैं देख सकता हूँ कि यह इस विषय का गलत वर्णन है। यूनानी चित्र बाहरी रूप पर बल देता है, पर इसके द्वारा वह एक कल्पनात्मक दृष्टि-संपन्न अंतः प्रेरणा की ओर ध्यान आकर्षित करता है जिसका लक्ष्य सौन्दर्य की किसी दिव्य शक्ति को प्रकट करना होता है और इसलिए वह हमें एक ऐसी चीज प्रदान करता है जो सौन्दर्य बोधात्मक निरे इंद्रिय सुख से कहीं अधिक होता होती है। यदि कलाकार ने यह कार्य पूर्णता के साथ किया है तो कृति का लक्ष्य पूरा हो गया और वह एक सर्वोत्तम कृति के रूप में स्थान प्राप्त करती है। भारतीय मूर्तिकार रूप के पीछे अवास्थित किसी वस्तु पर जो स्थूल के साथ कल्पना से तो अधिक दूर पर आत्मा के अधिक निकट होती है, और वह भौतिक रूप को उस वस्तु के मुकाबले गौण स्थान प्रदान करता है। यदि वह केवल आशिक रूप में सफल हुआ है या उसने इसे शक्ति के साथ तो संपन्न किया है पर कार्यान्वित में कोई चीज दोष पूर्ण रह गई तो उसकी कृति कम महान् होती है, इसके उद्देश्य में अधिक महान् भावना ही क्यों न विद्यमान हो : परन्तु जब वह पूर्ण रूप से सफल होता है तब उसकी कृति भी एक उत्कृष्ट रचना होती है, और हम उसे शुद्ध हृदय से पसंद कर सकते हैं, यदि हम कला में आध्यात्मिक किंवा उच्चतर अन्तर्ज्ञान दृष्टि की ही सर्वाधिक भौग करते हैं।

इसीलिए समस्त महान् कलात्मक कृति अन्तर्ज्ञान की एक क्रिया से, वस्तुतः किसी बौद्धिक विचार या उज्ज्वल कल्पना से नहीं, ये तो केवल मानसिक रूपांतर हैं,—बल्कि जीवन या मत्ता के किसी सत्य के सीधे अन्तर्ज्ञान से, उस सत्य के किसी अर्थपूर्ण रूप से, मनुष्य के मन में हुए उसके किसी विकास में दृढभूत होती है। किसी कृति पर दृष्टिपात करते हुए हमें रंग, रेखा एवं विन्यास के द्वारा या और किसी भी ऐसी चीज के द्वारा जो बाह्य साधनों का अंग हो, उस वास्तविक वस्तु की ओर, इन बाह्य वस्तुओं के मानसिक संकेतों की ओर लौटना होगा और इनके द्वारा संपूर्ण विषय की आत्मा की ओर जाना होगा। आकर्षण सीधे गम्भीरतम आत्मा एवं अन्तःस्थित अध्यात्म मत्ता की दृष्टि को नहीं होता बल्कि ऐन्द्रिय, प्राणिक, भावमय, बौद्धिक और कल्पनात्मक

सत्ता के प्रबल जागरण के द्वारा बाह्य अन्तःकरण को ही होता है, और आध्यात्मिक सत्ता का तो हम उतना ही अधिक या उतना ही कम अंश प्राप्त करते हैं। जितना कि बाह्य मनुष्य के अनुकूल हो सकता है और उसके द्वारा अपने को प्रकट कर सकता है। जीवन, रम, मनोवेग, भावावेश, विचार, विश्वप्रकृति जो स्वयं अपने लिए तथा अपने अन्दर विद्यमान सौन्दर्यात्मक आनन्द के लिए देखे गए हों—ये ही इस सर्जनशील अन्तर्ज्ञान का विषय और क्षेत्र हैं। इससे अधिक कोई वस्तु जिसे भारतीय मन इन चीजों के पीछे अवस्थित जानता है, यदि भौकती भी है तो अनेक पदों के पीछे से ही। अनन्त और उसके देवताओं की सत्तात् और अनावृत उपस्थिति का आवाहन नहीं किया जाता और न इसे महत्तर महानता एवं नञ्चतम पूर्णता के लिए आवश्यक ही समझा जाता है।

प्राचीन भारतीय कला के महत्तम स्वरूप का सिद्धांत—और वह महत्तम स्वरूप ही शेष सारी कला को आकार-प्रकार प्रदान करता है तथा कुछ अंश में उनपर अपनी छाप और प्रभाव भी डालता है—एक और ही प्रकार का है। उसका मर्म उच्च कार्य है—अंतरात्मा की दृष्टि के सम्मुख परम आत्मा, अनन्त एवं भगवन् के कुछ अंश को प्रकट करना, परम आत्मा को उसकी अभिव्यक्तियों के द्वारा, अनन्त को उसके सजीव सन्त प्रतीकों के द्वारा और भगवान् को उनकी शक्तियों के द्वारा प्रकट करना। या फिर उसे अंतरात्मा की बोध-शक्ति या भक्ति-भावना या, कम-से-कम अध्यात्ममय या धर्ममय रसात्मक भावावेग के सामन देवताओं को प्रकट करना, प्रकृशमय रूप में उनकी व्याख्या करना या किसी प्रकार उनका संकेत देना होता है। यह पवित्र कला इन ऊँचाइयों से उत्पन्न हमारे लोकों के पीछे अवस्थित मध्यवर्ती लोकों तक, हीनतर देवताओं या जिनो तक पहुँचती है, तब भी यह ऊपर से किसी शक्ति या किसी संकेत को उनमें ले आती है। और जब यह विनकुल नीचे जब जगत् तक और मनुष्य के जीवन तथा बाह्य प्रकृति की वस्तुओं तक पहुँचती है तो भी यह महत्तर अंतर्दृष्टि, पवित्र छाप और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा रहित नहीं हो जाती, और अधिकांश उत्तम कृतियों में—विश्राम के और गोचर पदार्थ के साथ विनोदपूर्ण या सजीव क्रीडा के क्षणों को खोज

कर—मदा ही कोई और चीज भी होती है जिसमें जीवन का जीवन चित्रण ऐम तेरता रहता है जैसे कि एक अभौतिक वातावरण में। जीवन को आत्मा में या अनन्त के या परे की किसी वस्तु एक के एक संकेत में देखा जाता है अथवा वहाँ कम-से-कम इन वस्तुओं का एक स्पर्श एवं प्रभाव होता है जो नस चित्रण को रूप देने में सहायक होता है यह बात नहीं है कि समस्त भारतीय कृतियाँ इस आदर्श को चरितार्थ करती हैं; निःसंदेह उनमें ऐसी भी बहुत-सी चीजें हैं जो इस ऊँचाई तक नहीं पहुँचती, नीचे रह जाती हैं, निष्प्रभाव या यहाँ तक कि विकृत होती हैं, परन्तु सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यंत विशिष्ट प्रभाव एवं कार्यान्वित ही किसी कला को अपनी रंगत देती है और इन्हीं के द्वारा हमें निर्णय करना चाहिए।

अतएव आत्मा के अन्दर देखना ही भारतीय कलाकार का अपना विशेष तरीका हो जाता है और यही कला सम्बन्धी शास्त्र का उसके लिए विधान है। उसाजम चीज को व्यक्त करना हो उसका सत्य पहले उस अपनी आध्यात्मिक सत्ता में देखना होगा और अपने संवोधि-मन में उसका रूप गढ़ना होगा; अपने आदर्श के लिए, अपनी पामाणिकता, अपने नियम और शक्तिक के लिए या अपने प्रेरणा-स्रोतों के लिए वह पहले बाह्य जीवन और प्रकृति पर दृष्टि डालने के लिए बाध्य नहीं है। जो चीज उसे व्यक्त करनी है वह जब एक सर्वथा आन्तरिक वस्तु है तो वह बाहर दृष्टि डालने के लिए बाध्य हो भी क्यों? अपने प्रेरणाप्रद साधनों के रूप में उसे जिन चीजों पर निर्भर करना है वे बुद्धिगत विचार, मानसिक कल्पना एवं बाह्य भावावेश नहीं बल्कि आत्मा का विचार, उसकी कल्पना और नसका भावावेश ही और मानसिक प्रातरूप तो प्रेषण कार्य में सहायता करने के लिए गौण साधनमात्र हैं और केवल कुछ अंश में ही रंग तथा रूप प्रदान करते हैं। स्थूल रूप, रंग, रेखा और योजना उसके अभिव्यञ्जना के भौतिक साधन हैं, परन्तु उनका प्रयोग करते समय वह प्रकृति का अनुकरण करने के लिए बाध्य नहीं है, बल्कि उसे रूप तथा अन्य सभी चीजों को इस प्रकार बनाना होगा कि वे उसकी अन्तर्दृष्टि को प्रकाशित करें और यदि यह कार्य केवल किसी ऐसे सुधार, किसी ऐसी भावभंगिमा, किसी ऐसे स्पर्श या

प्रतीकात्मक परिवर्तन के द्वारा ही किया जा सकता हो या सुचारु रूप से किया जा सकता हो जो भौतिक प्रकृति में उपलब्ध नहीं है, तो नपुंका प्रयोग करने के लिए वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है, क्योंकि उसकी अन्तर्दृष्टि के सामने प्रकट होनेवाला सत्य ही, जिस चीज को वह देख रहा और प्रकट कर रहा है उसका एकत्व ही उसका एकमात्र विषय है। रेखा और रंग आदि वस्तुएँ उसका पहला नहीं बल्कि सबसे पिछला कार्य है, क्योंकि उन्हें अपने ऊपर उन अर्गणित वस्तुओं का भार वहन करना है जो उसके मन में पहले से ही आध्यात्मिक रूप प्रदण कर चुका हैं। उदाहरणार्थ, उसे हमारे लिए बुद्ध के मानवीय चेहरे और शरीर का या उनक जीवन की किसी एक प्रबल अभिलाषा या घटना का पुनः चित्रण नहीं करना है, बल्कि बुद्ध की प्रतिमूर्ति के द्वारा निर्वाण की शान्ति को अभिव्यक्त करना है, और इसके लिए उसे प्रत्येक व्योरे तथा सहायक वस्तु को अपने उद्देश्य के साधन या सहायक के रूप में परिणत करना होगा। और जब उसे किसी मानवीय अभिलाषा या घटना का चित्रण करना होता है तब भी प्रायः यह केवल यही चीज नहीं होती बल्कि अन्तरात्मा के अन्दर की कोई और चीज भी होती है या वह अन्दर की चीज ही अधिक मात्रा में होती है जिसकी और यह केवल ईंगित करती है या जिसमें यह लब्ध होता है अथवा उस कार्य के पीछे अवस्थित कोई शक्ति होती है जिसे उसकी योजना की भावना में प्रवेश करना होता है और जो प्रायः ही एक वस्तुतः प्रधान वस्तु होती है। और जो आँख उसकी कृति को देखती है उसके द्वारा उसे केवल बाह्य सत्ता की उत्तेजना को ही नहीं वरन् अन्तरात्मा को भी आकर्षित करना है। कोई भली भाँति यह कह सकता है कि यदि भारतीय कलात्मक कृति के संपूर्ण अर्थ में प्रवेश करना हो तो उस महज सौन्दर्यात्मक महज प्रेरणा के जो कलाविषयक समस्त मूल्यांकन के लिए आवश्यक है, पाधारण विकास के परे हमारे अन्दर एक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि या संस्कृति का होना आवश्यक है, अन्यथा हम केवल ऊपरी सतह की बाह्य वस्तुओं या, अधिक से अधिक, ऊपरी सतह से ठीक नीचे की वस्तुओं तक ही पहुँच पाएँगे। यह एक अन्तर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक कला है और इन अन्तर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक आँख से ही

देखना होगा।

यही भारतीय कला का विशिष्ट स्वरूप है और इसकी उपेक्षा करना उसे बिल्कुल ही न समझना या बहुत गलत समझना होगा। भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला अपनी अन्तःप्रेरणा में भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृति की केन्द्रीय वस्तुओं के साथ घनवृत्तः एक ही नहीं हैं बल्कि वे इनके गूढ़ार्थ की विशेष रूप से तीव्र अभिव्यक्ति भी हैं। साहित्य में तो ऐसा बहुत कुछ है जिसका मूल्यांकन इन चीजों में गहरा प्रवेश किए बिना काफ़ी अच्छी तरह से किया जा सकता है, परन्तु अन्य कलाओं का, वे हिन्दू और बौद्ध, जो अवशेष बच रहा है उसका अपेक्षाकृत बहुत ही थोड़ा भाग ऐसा है जिसके बारे में यह बात कही जा सकती हो। वे एक बहुत बड़ी हद तक भारत के आध्यात्मिक, चिन्तात्मक और धार्मिक अनुभव की पवित्र सौन्दर्यपूर्ण लिपि रही हैं।

वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला वे तीन महान् कलाएँ हैं जो आँख के द्वारा आत्मा को आकर्षित करती हैं और इमालए ये वे चीजें भी हैं जिनमें 'गोचर' और 'अगोचर' अपने ऊपर अधिकतम बल देते हुए भी एक दूसरे की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव करते हुए परस्पर संयुक्त होते हैं। यहाँ अपने प्रधान-प्रधान अंगों, अनुपातों, रेखाओं और रंगों से युक्त आकार इन्हें केवल इनकी उस सेवा के द्वारा ही उचित ठहरा सकता है जो ये किसी ऐसी अगोचर वस्तु की करती हैं जिसकी अभिव्यक्ति आकार को करनी होती है; आत्मा आँख के द्वारा अपने प्रति अपने-आपको प्रकट करने के लिए स्थूल रूप की समस्त संभव सहायता की अपेक्षा करती है, फिर भी वह इसमें मॉग करती है कि यह अपने महत्त्व अर्थ का यथासंभव अधिक से अधिक पारदर्शक पदा हो। पूर्व की कला और पश्चिम की कला प्रत्येक अपनी विशिष्ट या मध्यम अवस्था में, क्योंकि अपवाद तो मदा ही होते हैं, इन दो परस्पर गुंथी हुई शक्तियों की समस्या को सर्वथा भिन्न प्रकार से हल करती हैं। पश्चिमी मन रूप से आकृष्ट और आवद्ध हो जाता है, उसी पर रुका रहता है और उसके मोहक आकर्षण से परे नहीं जा सकता, उसका अपने सौन्दर्य के लिए ही उससे प्रेम करता है, उसकी अत्यन्त प्रत्यक्ष भाषा से सीधे ही जो भावमय, बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक

सुभाव उत्पन्न होते हैं उन्हीं पर निर्भर रहता है, आत्मा को देह में कैद कर देता है; प्रायः यहाँ तक कहा जा सकता है कि इस मन के लिए रूप आत्मा की सृष्टि करता है, आत्मा अपनी सत्ता के लिए और उसे जो कुछ कहना होता है उस सबके लिए रूप पर निर्भर करती है। इस विषय में भारतीय मनोभाव इस विचार के सर्वथा विपरीत है। भारतीय मन के लिए रूप आत्मा की एक सृष्टि के रूप में ही अस्तित्व रखता है, और किसी रूप में नहीं, और वह अपना समस्त अर्थ एवं मूल्य आत्मा से ही आहरण करता है। प्रत्येक रेखा, आकार-प्रकार की व्यवस्था, रंग, आकृति, भंगिमा, प्रत्येक भौतिक संकेत,—वे चाहे अनेक, बहुल और समृद्ध ही क्यों न हों,—प्रथमतः और अन्ततः एक निर्देश एवं संकेत ही होता है, बहुधा वह एक ऐसा प्रतीक होता है जो अपने मुख्य व्यापार में एक आध्यात्मिक भावावेग, विचार और प्रतिमूर्ति का आधार होता है, वह भावावेग आदि फिर अपने से परे उस आत्मा के कम निरूपणीय, पर अधिक सबल रूप में गोचर सत्य की ओर जाते हैं जिसने सौन्दर्यात्मक मन में इन गति-विधियों को उद्दीपित किया है और इनके द्वारा अर्थपूर्ण आकारों में परिणत हो गया है।

भारत के चिन्तनात्मक और सर्जनशील मन की यह विशिष्ट शक्ति इस बात को आवश्यक बना देती है कि इसकी कृतियों के विषय में विचार करते समय हम उन कृतियों से परे एकदम उस सत्य के आन्तरिक मूल भाव तक पहुँचने का यत्न करें जिसे कि भारतीय मन अमिव्यक्त करता है और बाहर से नहीं बल्कि उसी सत्य पर से उन्हें देखने की कोशिश करें। और सच पूछो तो भौतिक व्योरो तथा उनके समन्वय से आरंभ करना मुझे भारतीय कला-कृति को देखने का बिल्कुल गलत तरीका मालूम होता है। यहाँ एकमात्र ठीक तरीका यह है कि एक पूर्ण अन्तर्ज्ञानात्मक या ईश्वर प्रेरित प्रतीति के द्वारा अथवा समग्र वस्तु की किसी समाहित एकाग्रता के द्वारा, जिसे भारतीय परिभाषा में 'ध्यान' कहते हैं, तुरंत ही आध्यात्मिक अर्थ और वातावरण तक पहुँचा जाय, अपने आपको उसके साथ यथासंभव पूर्ण रूप से एक कर दिया जाय, और केवल तभी शेष सब चीजों का सहायक अर्थ एवं मूल्य पूर्ण और सत्य-प्रदर्शक बल के साथ प्रकट होगा। क्योंकि, यहाँ आत्मा ही रूप को

वहन करती है, जब कि अधिकांश पश्चिमी कला में रूप ही, आत्मा का जो कुछ भी अंश वहाँ विद्यमान हो उसे वहन करता है। यहाँ एपिक्टीटम (Epictetus) की एक चमत्कारक उक्ति स्मरण हो आती है जिसमें वह मनुष्य का "शव को उठाए हुई एक छोटी-सी आत्मा" के रूप में वर्णन करता है। किन्तु भारतीय मन और भारतीय कला की दृष्टि उस गृहत्, असीम आत्मा एवं अध्यात्म सत्ता, महान् आत्मा, की दृष्टि है जो अपनी उपस्थिति के समुद्र में हमारे सामने अपनी जीवंत आकृति को ले आती है; वह आकृति उसकी अपनी अनन्तता की तुलना में चाहे छोटी ही होती है किन्तु फिर भी जो शक्ति इस प्रतीक को अनुप्राणित करती है उसके द्वारा उस अनन्त की आत्म-अभिव्यक्ति के किसी रूप को आश्रय देने के लिए वह पर्याप्त होती है। अतएव यह आवश्यक है कि यहाँ हम केवल तर्कबुद्धि और सौन्दर्यात्मक कल्पना के द्वारा अनुप्राणित स्थूल आँख से ही न देखें बल्कि स्थूल अवलोकन को आन्तरिक आध्यात्मिक आँख के खुलने और अन्तरात्मा के साथ आनन्द-पूर्ण अन्तःसम्पर्क प्राप्त करने का मार्ग बनाएँ। एक महान् पूर्वीय कला-कृति उस मनुष्य के सामने अपना रहस्य सहज में प्रकट नहीं करती जो इसके पास केवल सौन्दर्य विषयक कुतूहल के भाव में या विवेचनशील समीक्षात्मक बाह्य मन को लेकर आता है, और उस मनुष्य के सम्मुख तो यह अपना रहस्य और भी कम प्रकट करती है जो इसके पास विचित्र और विदेशी वस्तुओं के बीच से गुजरनेवाले एक परिपक्व और पक्षपाती पर्यटक के रूप में आता है; इसे तो निर्जनता में, अपनी आत्मा के एकान्त में एवं ऐसे क्षणों में देखना होगा जब कि हम सुदीर्घ और गम्भीर ध्यान करने में समर्थ होते हैं और स्थूल-भौतिक जीवन की रुढ़ियों के बोझ से यथा संभव कम-से-कम दबे हुए होते हैं।

भारत के प्राचीन युग के भवन, उनके राजमहल, सभा भवन और नागरिकों की अट्टालिकाएँ काल की संहारलीला से बच नहीं सकी हैं; हमारे सामने जो कुछ बचा हुआ है वह अधिकांश में महान् पर्वतीय और कंदरागत मंदिरों का किंवा उसके मैदानों में बसे प्राचीन शहरों के मंदिरों का भी कुछ अंश है, और इसके अतिरिक्त हमारे सामने उसके बाद के समय के जब कि मंदिर ही जीवन का केन्द्र था, कुछ प्रार्थनाशुद्ध और देव

मंदिर भी हैं, चाहे वे श्रीरंगम् और रामेश्वरम् जैसे मंदिर प्रधान नगरों और तीर्थस्थानों में स्थित हों या उसके मधुरा जैसे महान् किसी समय के राजकीय नगरों में स्थित हों। इस प्रकार एक पवित्र कला का अत्यंत पवित्र पदार्थ ही हमारे सामने बच रहा है। ये पवित्र भवन एक प्राचीन आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कृति के चिह्न हैं, स्थापत्य के द्वारा उनकी आत्म-अभिव्यक्ति हैं। यदि हम प्रतीकों, और संकेतों, आध्यात्मिक निर्देश और धार्मिक महत्त्व की एवं उनके आशय की उपेक्षा करें और केवल तार्किक लौकिक सौन्दर्यात्मक मन के द्वारा देखें तो यह आशा करना व्यर्थ है कि हम इस कला के किसी सच्चे और सूक्ष्मदर्शी मूल्यांकन तक पहुँच सकेंगे। भारतीय मंदिर पर कलात्मक दृष्टि डालते हुए उसमें पश्चिमी स्मृतियों को ले आना या यूनान के पर्थिनोन मंदिर या इटली के गिरजे या मुख्य गिरजाघर या बड़े घराटाघर के साथ या यहाँ तक कि मध्ययुगीन फ्रांस के बड़े गार्थिक गिरजों के साथ भी भारतीय मंदिर की तुलना करना,—यद्यपि इनमें कोई ऐसी चीज अवश्य है जो भारतीय मनोवृत्ति के अत्यधिक निकट है,—मन में एक घातक विदेशीय और गहबहब सचानेवाला तत्त्व या मानदेह ला घुसेड़ना है।

भारतीय पवित्र वास्तुकृति, वह चाहे किसी भी तिथि और शैली की क्यों न हो या किसी के भी निमित्त उत्सर्ग क्यों न की गई हो, पीछे की तरफ किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है जो अनादिरूप से प्राचीन है और जो आज भारत से बाहर प्रायः पूर्ण रूप से विलुप्त हो चुकी है; किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है जो अतीत से सम्बन्ध रखती है, और फिर भी वह आगे की ओर बढ़ती है, यद्यपि तर्कवादी मन इस बात को महज में नहीं स्वीकार करेगा; आगे वह किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है जो हम पर फिर लौटकर आएगी और लौटना आरंभ भी कर चुकी है; किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है जो भविष्य से सम्बन्ध रखती है। भारतीय मन्दिर वह चाहे किसी भी देवता के निमित्त बनाया जाए,

अपने अन्तरतम मत्तत्वरूप में भागवत पुरुष के निमित्त प्रतिष्ठित एक वेदी है, वह विश्वात्मा का घर है अनन्त के प्रति एक आह्वान और अभीप्सा है। सर्वप्रथम उसे इसी रूप में और इस दृष्टि एवं परिकल्पना के प्रकाश में ही समझना होगा और अन्य प्रत्येक वस्तु को भी इसी योजना और इसी प्रकाश में देखना होगा, केवल तभी हमें इस विषय में कोई सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कोई भी कलात्मक आँख, चाहे वह कैसी भी सजग और बोधक्षम क्यों न हो, कोई भी सौन्दर्यलक्ष्मी मन चाहे वह कैसा भी परिपक्व और संवेदनशील क्यों न हो इस ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता, यदि वह तर्कसंगत सौन्दर्य की यूनानी रंग में रंगी धारणा के प्रति आसक्त हो अथवा स्थूल या भौतिक व्याख्या में अपने आपको कैद कर ले और विश्व-चेतना के किसी स्पर्श, महत्तर आध्यात्मिक स्वरूप के किसी साक्षात्कार, अनंत के किसी निर्देश के प्रति एक सजातीय घनिष्ठ प्रत्युत्तर के द्वारा अपने आपको भारतीय वास्तुकृति में अभिप्रेत महान् वस्तुओं की ओर खोलने में सफल न हो। ये वस्तुएँ, अर्थात् आध्यात्मिक सत्ता, वैश्व आत्मा, और अनंत, बौद्धिक नहीं वरन् अतिबौद्धिक एवं सनातन सत्ताएँ हैं—पर बुद्ध के निकट ये केवल शब्दमात्र हैं,—और केवल हमारी अंतरतम आत्माओं में होने वाले अंतर्ज्ञान और साक्षात्कार के लिए ही गोचर, ज्ञेय और निवृत्तस्थ हैं। जो कला इन्हीं को प्रथम परिकल्पना के रूप में लेकर चलती है वही हमें हमारे अन्दर के, हमारी अपनी अंतरात्मा एवं आत्मा के किसी प्रत्युत्तरदायी अंतर्ज्ञान और मत्तदर्शन के द्वारा वह चीज अर्थात् इनका स्पर्श और साजिष्य एवं इनका आत्मप्रकाश दे सकती है जो कि उसे देनी है। बस, यही वह चीज है जिसे पाने के लिए मनुष्य को इसके पास आना चाहिए और इससे किसी बिलकुल दूसरी अभिलाषा या किसी अत्यंत भिन्न कल्पना-धारा और अधिक सीमित स्थूल अर्थ की संतुष्टि की माँग नहीं करनी चाहिए।

पांडिचेरी

—श्री अरविन्द

यदि मैं अपने हृदय में एक हरी-भरी शाखा को रक्खूँगा-तो गानेवाला पक्षी वहाँ अवश्य आएगा।

—चीनी कहावत

गुरुवर श्री पं० काशीनाथ जी शास्त्री

गंगा तट पर गुरुकुल प्रारम्भ होने के लगभग तीन वर्ष बाद यह अनुभव करके कि अब ब्रह्मचारियों को संस्कृत दर्शन की नच्च शिक्षा देने के लिए किसी प्रकार के विद्वान् की आवश्यकता है, गुरुकुल के मुख्याध्यापता श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने एक विश्वस्त कार्यकर्ता को काशी भेजा। काशी प्राचीन काल से पण्डितों की खान रही है। भेजते हुए मुख्याध्यापता जी ने अपने कार्यकर्ता को बाबू शिवप्रसाद गुप्त के नाम परिचायक पत्र दिया, जिसमें लिखा था कि गुरुकुल के लिए एक प्रथम कोटि के विद्वान् की आवश्यकता है; आप इस कार्य में हमारी सहायता कीजिए। गुरुकुल से कुछ विद्वानों के नाम भी निर्दिष्ट कर दिए गए थे। निर्दिष्ट नामों में से एक नाम पं० काशीनाथ शास्त्री का भी था। गुरुकुल के इस समय के संस्कृत शिक्षकों में से कई विद्वान् श्रीगुप्त पं० काशीनाथ जी से विद्याध्ययन कर चुके थे। अन्य निर्दिष्ट नामों में श्री भागवताचार्य का नाम मुख्य था। पं० भागवताचार्य जी अपनी वावदूकता के लिए प्रसिद्ध थे।

कार्यकर्ता ने काशी पहुँच कर गुप्त जी से परामर्श किया। गुप्त जी ने बतलाया कि पं० काशीनाथ जी का नाम तो सुना है परन्तु कैसे हैं? और कहाँ हैं? यह कुछ मालूम नहीं। तब गुरुकुल में गए हुए सज्जन शास्त्री जी की तलाश में निकले। घण्टों के प्रयत्न के पश्चात् एक विद्यार्थी के साथ शहर की एक तंग गली में पहुँच कर देखा कि अत्यन्त पुराने ढंग के बड़े से कमरे में तख्त पर रजाई ओढ़े हुए एक बृद्ध विद्वान् बैठे हैं और छात्रों को हाथ में पुस्तक लिए बिना ही पढ़ा रहे हैं। सन्धा की समाप्ति के लिए चिरकाल तक बैठ कर प्रतीक्षा करनी पड़ी। जो कुछ देखा वह आश्चर्यजनक था। 'शारीरिक भाष्य' का पाठ चल रहा था। गुरु जी के हाथ में अथवा पास कोई पुस्तक नहीं थी। स्मृति से ही पढ़ा रहे थे। छात्रों के पास पुस्तकें थीं परन्तु उन्हें भी देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कभी-कभी गुरु जी के कहने पर शिष्य लोग भी प्रतीक देख लेते थे। पठन पाठन स्मरण शक्ति के आधार पर ही चल

रहा था।

जब शिष्य लोग चले गए तब गुरुकुल के कार्यकर्ता ने शास्त्री जी के सम्मुख गुरुकुल चलने का प्रस्ताव रखा। शास्त्री जी को उन दिनों काशी नरेश से २५) रुपए मासिक की दक्षिणा प्राप्त होती थी। उसी से तपस्वी विद्वान् की जीवन यात्रा चल रही थी। वह काशी से बाहर जाने का प्रस्ताव सुन कर आश्चर्य में पड़ गए और एक बार तो स्तब्ध से रह गए। पुण्य नगरी काशी और भगवती भागीरथी के तट को छोड़ कर कहीं अन्यत्र जाना उन दिनों के पंडितों को अधम-कृत्य सा ही प्रतीत होता था। परन्तु जब उनसे निवेदन किया गया कि कांगड़ी ग्राम भी दरिद्र तीर्थ का एक भाग है और गुरुकुल का आश्रम भी भागीरथी के तट पर बना हुआ है तब गुरु जी कुछ नरम हो गए और धीरे-धीरे दो तीन दिन में डेढ़ सौ रुपए मासिक दक्षिणा पर गुरुकुल जाने के लिए उद्यत हो गए।

कुछ दिनों की प्रतीक्षा के पश्चात् गुरुवर पं० काशीनाथ जी शास्त्री गुरुकुल में पहुँच गए। गुरुकुल में उनका "गुरु जी" इस आदरणीय उपाधि से निर्देश होता था। गुरु जी पुगने ढंग के पाण्डित्य का बढिया नमूना थे। उनका वेश यह था कि धोती और बगड़ी के अतिरिक्त चादर ओढ़ते थे। सर्दियों में चादर के स्थान पर लिहाफ ओढ़ लेते थे। अधिक गर्मी होने पर बगड़ी भी उतार देते थे। उनके स्टाक में कोई चौथा कपड़ा नहीं रहता था। धोबी के यहाँ कोई कपड़ा धुलने नहीं देते थे। नहा कर गीली धोती या तो स्वयं निचोड़ लेते थे अथवा उनका वह शिष्य जो साथ रहता था, निचोड़ देता था। प्रायः वह अपने साथ अपने बड़े आत्मज पं० हरिनाथ जी को रखते थे।

भोजन या तो अपने हाथ से बनाते अथवा अपने मजातीय शिष्य से बनवाते थे, गुरु जी का जन्म-स्थान बलिया था। उनका भोजन वहीं की पद्धति के अनुसार बनता था। एक छोटा-सा रसोईघर उनके लिए सुगन्धित कर दिया गया था। दोपहर के समय अध्ययन से निवृत्त होकर गुरु जी स्नान करते और फिर रसोईघर में चले

जाते थे। प्रातः काल के समय केवल दूध पीते थे। विशेषता यह थी कि दूध पीकर दूध के बर्तन में पानी डालकर उस पानी को भी पी जाते थे। कहा करते थे दूध अमृत है, उसके किसी अंश को भी छोड़ना अमृत का तिरस्कार करना है। भोजन के पश्चात् गुरु जी अपने निवास स्थान आनन्दाश्रम में जाकर कुछ समय तक विश्राम करते थे। पुराने गुरुकुल के यात्रियों ने गंगा-तट पर बने हुए आनन्दाश्रम को अवश्य देखा होगा। वह फूम से छाया हुआ एक आँगन वाला आश्रम जिस में छः सात कमरे थे—उसमें पंडित मण्डली रहा करती थी। जिस पंडित का परिवार आ जाए उसे परिवार गृहों में चले जाना पड़ता था। आनन्दाश्रम के अधिष्ठाता देवता गुरु जी थे।

पुराने पंडितों को प्रायः पान, तम्बाकू, सुपारी, सूंघनी आदि में से किसी न किसी चीज की आदत हुआ करती थी। गुरु जी को सूंघनी की आदत थी। वैसे तो जागृत दशा में सदा थोड़ी-थोड़ी देर में सूंघनी सूंघते रहना उनके लिए आवश्यक था, परन्तु जब वे पढ़ाने के लिए बैठते थे, तब वह अनिवार्य हो जाता था। तब बहुत-सी सूंघनी चुटकी में लेकर नासिका के मार्ग से मस्तक तक पहुँचाने से मन सावधान सा हो जाता था। उसके पश्चात् गुरु जी को कोई पुस्तक हाथ में लेने की आवश्यकता नहीं रहती थी। शिष्य लोग पाठ बोलते जाते थे और गुरु जी समझाते जाते थे। इस प्रसंग में एक मनोरंजक घटना याद आ गई। उसे यहाँ लिख देता हूँ। एक माल चौमासे में गंगा का जल बहुत बढ़ गया। गुरुकुल और हरिद्वार के बीच में आवागमन बिलकुल बन्द हो गया। परिणाम यह हुआ कि सूंघनी की नई पुड़िया बाजार से न आ सकी और पुरानी पुड़िया खाली हो गई। पूरा एक दिन इसी तरह बीत गया। अगले दिन प्रातःकाल जब हम लोग गुरु जी के सामने पढ़ने के लिए बैठे तब बहुत ही करुणाजनक दृश्य उपस्थित हुआ। गुरु जी कभी विद्यार्थियों की ओर देखते थे और कभी गंगा की धार की ओर। सूंघनी बिना विद्वत्ता के उस अथाह सागर के मस्तिष्क और वाणी सर्वथा शुष्क हो गए। तीन दिन इसी तरह बीत गए। कोई पाठ न हुआ। चौथे दिन गुरु और शिष्य उसी प्रकार बैठकर समय व्यतीत कर रहे थे कि इतने में गंगा की धार में तमेड़ दिखाई दी। तमेड़ कनस्तरो की

उस नौका को कहते हैं कि जिसे तैराक लोग अपनी छाती के बल से भरी हुई गंगा में चलाते हैं। तमेड़ के दिखाई देने पर गुरु जी ने इशारे से एक ब्रह्मचारी को भगाया जिस ने तमेड़िए से सूंघनी की पुड़िया लाकर गुरु जी के हाथ में दे दी। उस समय उनके चेहरे की प्रसन्नता देखने योग्य थी। गुरु जी ने सूंघनी की कई चुटकियाँ इकट्ठी नाक में चढ़ा लीं, जिस से एक बार तो आँख और नाक से खूब पानी बह निकला; परन्तु थोड़े ही समय में प्रतिभा के सब कपाट खुल गए और संथा का क्रम जारी हो गया।

अल्पज्ञता और बाल्यावस्था के कारण सब ऐसे छात्रों की तरह हमारे अन्दर भी दुरभिमान की मात्रा पर्याप्त थी। हम लोग अपने को अध्यापकों का कुशल परखेया मानते थे। सब के बारे में सम्मांतयों बना रखी थीं। किसी अध्यापक को हम वैयाकरण तो मानते थे परन्तु उसे साहित्य में कौग ही समझते थे। इसी प्रकार साहित्य और दर्शन के अध्यापकों के एक देशी ज्ञान की चर्चा करते थे। गुरु जी के सब शिष्यों का प्रतिनिधि बन कर मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कई वर्षों तक अध्ययन करके भी हम गुरु जी के चौमुखे पाण्डित्य में कोई छिद्र न निकाल सके। व्याकरण, वेदान्त, न्याय, साहित्य आदि विषयों का कोई भी ग्रंथ लेकर बैठते थे तो कभी गुरु जी की प्रतिभा को रुकते नहीं पाया। प्रत्येक विषय उनके विशाल मस्तक में मानो बड़े-बड़े और स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित था। कम-से-कम हम छात्रों को उस ज्ञान मागर का कोई ओर छोर नहीं दिखाई देता था। अब ५० वर्षों के पश्चात् जब चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर देखता हूँ कि तब वैमं गम्भीर पाण्डित्य का चिन्ह भी दिखाई नहीं देता।

उम पाण्डित्य की गम्भीरता यह थी कि गुरु जी में दिखावे का अणुमात्र भी अंश नहीं था। न किसी से वादविवाद और न शास्त्रार्थ। पठन और पाठन—ये दो ही उनके कार्य थे जिनके अतिरिक्त संसार की अन्य महत्वाकांक्षाएँ उन्हें तुच्छ प्रतीत होती थीं। गम्भीरता का यह हाल था कि अध्यापन काल के अतिरिक्त दिन भर में शायद एक दर्जन वाक्य ही बोलते हों। बात-चीत में सदा ठेठ पुरबिया भाषा का प्रयोग करते थे। हमने खड़ी बोली बोलते हुए उन्हें कभी नहीं सुना। निम्न लिखित घटना से उनकी भाषा और सादगी का

ठीक-ठीक परिचय मिल सकता है। एक बार लम्बी नुट्टियों में गुरु जी बलिया जाने के लिए तैयार हुए। यात्रा के लिए एक खुर्ची सजाई गई जिसमें एक और कुछ कपड़े और दूसरी ओर सत्तू चने आदि बंधे हुए थे। रेल की यात्रा में गुरु जी न जल पीते थे और न खाना खाते थे। जब गाड़ी किसी बड़े स्टेशन पर ठहरती थी तब यदि प्लेटफार्म के नल पर नहाने का अवसर मिल गया और चादर तान कर ओट करने की भी सुविधा हुई तो चने चाब कर पानी पी लेते थे। हम विद्यार्थी लोग गुरु जी को गाड़ी में बिठाने के लिए स्टेशन तक गए। खुर्ची को कन्पे पर डाल कर गुरु जी तीमरे दर्जे के डब्बे में प्रविष्ट हुए और सीट के नीचे की जगह में बैठने लगे तो हम लोगों ने सीट पर जगह खाली कराकर गुरु जी में निवेदन किया कि महाराज आप नीचे क्यों बैठते हैं, सीट पर बैठिए, जगह तो हैं ? गुरुजी ने बहुत भोले ढंग पर उत्तर दिया “अरे यहाँ ठीक है वहाँ से कोई उठाए देई है” उस समय तो हम लोगों ने यह विश्वास दिला कर कि मारे रास्ते में आपको कोई नहीं उठाएगा, गुरु जी को सीट पर बिठा दिया था। आगे कंसी बीती यह भगवान् ज्ञाने।

गुरु जी को हम जीता जागता बोलने वाला पुस्तकालय कह सकते हैं। हमारे देश में आदिकाल में ऐसे पुस्तकालय विद्यमान रहे हैं। श्रुति और स्मृति इन दोनों शब्दों का उद्भवस्थान वही है। ऐसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् वेदों में लेकर काव्य शास्त्रों तक के ग्रन्थों को अपने मस्तक में सुगन्धित रख लेते थे। हमारे इति-

हाम के मध्यकाल में जब जब पुस्तकालयों पर विश्वसक आक्रमण होने लगे तब उन सजीव पुस्तकालयों ने ही हमारी सांस्कृतिक निधि की रक्षा की थी। गुरु जी उन सजीव पुस्तकालयों की माला की शायद अन्तिम कड़ी थे। आज विद्वान् भी बहुत हैं और वक्ता भी बहुत। परन्तु वेमा गम्भीर और मौन पाण्डित्य डूँढ़ने में भी नहीं मिलता। उन विद्वानों में प्रदर्शन नहीं था। इस कारण उन पर कुहाष्ट भी नहीं थी। उस समय में मारकाट के समय में जैसे बहुत से क्लेश मान्दरों का विश्वस हो गया वैसे ही बहुत म दिखवाई देने वाले निर्जोव और सजीव पुस्तकालय भी काल के चक्र में आ गये। यदि उस स्वराट् पन्थ में हमारी संस्कृत का आधारभूत साहित्य बचा रहा तो उस का श्रेय पं० काशीनाथ जी जैसे सजीव परन्तु मौन पुस्तकालयों को है। हम लोगों ने लगभग चार वर्ष तक गुरु जी में व्याकरण तथा दर्शनों का अध्ययन किया। वे हमारी शिक्षा के अविस्मरणीय चार वर्ष थे। अपने दार्शनिक साहित्य में हमारी श्रद्धा दिनों दिन बढ़ती गई। यहाँ तक कि समय की परिस्थितियों के साथ उस का सामंजस्य भी डावाँडोल हो गया था। अन्त में हमारी शिक्षा का स्वरूप तो कुछ बदला परन्तु उन प्रागम्भिक वर्षों के गहरे अध्ययन ने बुद्धि का जो संस्कार किया उसने सदा हमारा साथ दिया। इस उपकार के लिए गुरु जी की तप, पाण्डित्य और मरुतता की मूर्ति के स्मरण आते ही हमारा मस्तक आमार की भावना से झुक जाता है।

चन्द्रलोक, जवाहर नगर,
नई दिल्ली

—इन्द्र विद्यावाचस्पति

अभिनय

श्रीयुत द्विजेन्द्रलाल राय द्वारा लिखित “चन्द्रगुप्त” नाटक का अभिनय हो रहा था। अभिनयकार थे स्वर्गीय श्रीयुत शिशिरकुमार भादुड़ी। दर्शकों में श्रीयुत द्विजेन्द्रलाल राय भी उपस्थित थे। अपने नाटक के सफल अभिनय से उन्होंने प्रसन्न हो कर कहा : “मैंने अपनी कल्पना में जो चित्र बनाया था—शिशिरकुमार का अभिनय उससे भी आगे बढ़ गया है।”

—गुजराती ‘कुमार’ से

चीनी की गुड़िया फूट जाने की बात कही। अतएव तत्काल ही मैं उसे बाजार ले गया और उसकी पसन्द की एक कवहड़े (सेल्युलाट) की गुड़िया दिलवा दी। उसे हाथ में ले कर बेबी ने कहा “केप्टन साहब, इस गुड़िया को मैं कभी नहीं तोड़ूँगी और कहीं खोऊँगी भी नहीं। हमेशा पास में रखूँगी।”

किन्तु एक दिन अचानक उस नगर पर जापानी हवाई-जहाज चक्कर काटने लगे और देखते ही देखते वहाँ बम-वर्षा होने लगी। प्राण रक्षा के लिए सब लोग इधर-उधर भागने लगे। किन्तु थोड़ी ही देर में हजारों मकान ढह गए और मुर्दों के ढेर लग गए। चारों ओर घायलों के चिल्लाने से एक भयंकर दृश्य उपस्थित हो गया।

दूसरे दिन उजड़े हुए घरों और मृत-व्यक्तियों को ठीक-ठिकाने से लगाने के लिए मेरे नेतृत्व में एक टुकड़ी भेजी गई। उसके साथ अपने हृदय को कठोर बना कर मैं शहर की ओर चला और सबमें पहले डॉ॰ तिवारी के बंगले पर ही पहुँचा।

बँगला पूरी तरह नष्ट हो चुका था। मेरा दिल एकदम बैठ-सा गया। सोचने लगा “संभव है डॉक्टर साहब ने सपरिवार किसी सुरक्षित स्थान में आश्रय ले लिया हो। या फिर वे भी इस ईंट चूने के ढेर के नीचे ही.....।

रामघाट मार्ग,
उज्जैन

तत्काल मैंने अपने सहकारियों की मदद से मलवा हटाना आरम्भ किया और थोड़ी ही देर में डॉ॰ साहब की लाश दिखाई दी। उसी के पास उनकी पत्नी भी दबी हुई थी। मेरी तो एकदम कमर ही बैठ गई। पागल की तरह मैं दोनों हाथों से मलवा हटाने लगा। मेरी आँखें, किसी को खोज रही थी। इतने ही में मुझे एक छोटा-सा पाँव दिखाई दिया। मेरी आँखों के सामने अंधेरी छा गया। वह पाँव बेबी का ही था। जैसे तैसे मैंने अपने आप को मम्हाला और एक बड़े से पाट को हटाया उसी के नीचे वह सुकुमार नन्ही-सी बेबी चिर-निद्रा में निमग्न हो रही थी। यही नहीं वरन् अपने साथ ले जाने को मेरी दिलवाई हुई गुड़िया को भी उसने अपने हृदय से चिपका रखा था।—बेबी ने अपने वचन का अक्षरशः पालन किया था। उसके शब्द मेरे कानों में गूँज रहे थे “केप्टन साहब, इस गुड़िया को मैं कभी अपने-से अलग नहीं होने दूँगी। इसे नहीं तोड़ूँगी—नहीं खोऊँगी।”

अब तुम्हीं बताओ कि इस स्मृति रूप गुड़िया को मैं अपनी आँखों के सामने यदि रखूँ; तो क्या यह भी कोई भूल है?”

इतना सुनते ही अपनी आँखें पोंछते हुए वह मेरे आँसुओं को भी पोंछने लगी। उसके हृदय से दुःख का प्रवाह-सा उमक रहा था।

—गोपीवल्लभ उपाध्याय

मन पेट के समान होता है;
यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि तुम
इसमें कितना डाल सकते हो;
महत्वपूर्ण बात यह है
कि तुम्हारे मन में पचाने की शक्ति कितनी है।

लोक गीतों में जीवन की समस्याएँ

किसी कवि ने कहा है कि 'जीवन का मार्ग केवल फूलों से भरा हुआ नहीं है, उसमें फूल भी है, काँटे भी।' और मस्य यह है कि इस सृष्टि का आधार उसकी द्रव्यता है। फूल-फूल न रह जाते, यदि वहाँ काँटे न होते। प्रकाश को कौन पहचान पाता, यदि यहाँ अन्धकार न होता और सुख सचमुच दुख बन जाता, अगर संसार में दुख न होता। इस लिए जीवन-पथ यदि विघ्नवाधाओं से रहित होता, जीवन में समस्याएँ न होतीं जीवन में संघर्ष न करना पड़ता, तो जीवन जीने लायक ही न रह जाता। इसी भाव को शायर असगर ने अच्छे ढंग से प्रकट किया है।

“चला जाता हूँ हँसता-खेलता मौजे-हवादि स से
अगर आसानियाँ हों, जिन्दगी दुश्वार हो जाए”

संघर्षों से टककर लेता हुआ बढ़ना ही तो जीवन है। और संसार का अनुभव तो यह कहता है कि—
“जिन व्यक्ति ने जितने अधिक संकटों को झेला, कांटों के बीच जिसका जीवन-सुमन खिला, उसे इस संसार में खतनी ही गौरव-गन्ध प्राप्त हुई।”

हमारा जीवन और उसके विविध रूप ही तो साहित्य में प्रतिबिम्बित होते हैं। जीवन की अनुभूतियाँ जब शब्दों का परिधान पहनकर सामने आती हैं तब उसे साहित्य की संज्ञा दी जाती है। साहित्य में यदि हमारा सुख-दुख, हमारी अनुभूतियाँ हमें न मिलें तो वह हमें क्योंकिर आकर्षित कर सकता है।

लोक-गीतों में जीवन की समस्याएँ, सुख-दुख और अनुभूतियाँ बिल्कुल सहज और स्वाभाविक रूप में हमारे सामने प्रकट होती हैं। लोकगीतों की सहजता और स्वभाविकता ही वह गुण हैं, जो हमें अपनी ओर न केवल आकर्षित करते हैं, वरन हमें भाव विभोर बना देते हैं।

ग्रामों का सामाजिक जीवन गीतमय है। उत्सव और मनोरंजन के अवसर तो संगीतमय रहते ही हैं। जीवन का ऐसा कोई संस्कार नहीं, जब ग्रामवधुएँ गीत न गाती हों। इतना ही क्यों प्रत्येक परिश्रम के साथ

गीत लगा हुआ रहता है। इन गीतों में जीवन का सुख-दुख, जीवन की स्वाभाविक बातें, नित्य जीवन की समस्याएँ सरल, अकृत्रिम भाषा में प्रकट होती हैं। इन गीतों में कहीं सहज, सरल, प्रणय व्यक्त हो रहा है, तो कहीं ममतामयी माँ की वात्सल्य भावना प्रकट हो रही है। कहीं पति के सान्निध्य का सुख-सन्तोष ललकता दीख पड़ता है, कहीं किसी विरह-विधुरा पाम बधूरी का दुख आँसू बन कर छलकता दिखाई देता है। ग्राम जीवन में समस्याओं की क्या कमी? इन गीतों में जीवन की ये समस्याएँ भी मुखरित होती चलती हैं।

अनेक लोक-गीतों में यह देखने को मिलता है कि प्रेम और श्रम गलवाही डाल कर चलते हैं। कारण भी स्पष्ट है। जीवन में पेट श्रम माँगता है और हृदय प्रेम! यदि मनुष्य को भर पेट भोजन मिल जाय, हृदय की तृप्ति के लिए प्रेम मिल जाय, तो साधारण मनुष्य सन्तोष-सुख का अनुभव करता है। पेट की समस्या कम प्रधान नहीं हैं।

गीतों पर खिचने सन्ध्याली को भी यह कहना ही पड़ता है—

“सेरेल दोम जोमा सेम लूया,
सेरेल दोम लादा सेम रापागा,
सेरेल दो मोने रे गे से वेला
सेरेल दो लुटी रे गेम लोटको-लोटोगा।”

—गीत को क्या तुम खाओगे? गीत को क्या तुम पीओगे? क्या उसे पकाओगे? गीत तो केवल मन को ही स्वाद पहुँचाता है। गीत तो केवल होठों पे ही रमता है।

गीतों की व्यर्थता यहाँ बताई गई है। पर क्या यह गीतों की विजय का प्रमाण नहीं है, कि गीतों की यह व्यर्थता बताई गई है एक गीत द्वारा।

जीवन की प्राथमिक समस्या भोजन समस्या है। प्रत्येक मनुष्य को इस समस्या को हल करना ही पड़ता है। श्रम और सहयोग के द्वारा यह समस्या हल हो ही जाती है और उसके हल होने पर जो सुख, जो सन्तोष प्राप्त

होता है, वह मधुर ही नहीं, मधुरनम होता है। एक संथाली युवक अपनी नवागत बधू से यही तो कह रहा है—

“बेगार-बेगार लाड ताहेंकाना
चौड़ी दाया ते लाड आयाय एना
कुरुमुट ते लाड काभीयानेच,
लोलो लोलो लाड दाका जोटा।”

—हम लोग अब तक अलग-अलग थे। ईश्वर की कृपा से अब हम एक हो गए हैं। अब हम दोनों डटकर एक साथ काम करेंगे (तगी तो) हमें गन्मन्गरम भात मिल सकेगा।

अजी और महयोग क बल पर यहाँ एक दम्पति अपने गन्मन्गरम भात की समस्या को हल करता दिखाई देता है।

ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जिसे अपना घर छोड़ कर परदेस जाना पसन्द होगा? गोव के वातावरण का मोह उसे पकड़ना है, माता-पिता, भाई-बहन की ममता उसे जकड़नी है और प्राणवत्तलभा प्रियतमा की भुजपाश उसे विवश करती हैं, किन्तु कैसी है पेट की समस्या, कि उसको हल करने के लिए मनुष्य को घर छोड़ कर परदेश जाना ही पड़ता है। वह जाने के लिए तैयार होता है, तो उसकी प्रियतमा कहती है—

“जो रठ चलियो चाकरी ये महिया
सान्नु वी ले चल्ली नाल बे।
अखिल्यौ नू नीद क्यों आई वे ?
तू करेगा चाकरी, चाकरी वे महिमा
मैं कलांगी सोदण सूत वे
अखिल्यौ नू नीद क्यों न आई वे ?”

—यदि नौकरी के लिए रठ चले हो, प्रियतम, तो मुझे भी अपने साथ ले चलो। अजी मेरी आँखों में नींद क्यों नहीं आ रही है? हे प्रियतम, तुम नौकरी करोगे, तो मैं सुन्दर सूत काटूँगी। अजी, मेरी आँखों में नींद क्यों नहीं आ रही है?

पंजाब प्रान्त की यह नव बधू अपने पति की ‘आय’ बढ़ाने के लिए कैसे उत्साहपूर्ण उद्गार प्रकट करती है। किन्तु नीचे लिखी पंक्तियों में एक संथाली बधू का उद्गार, आग्रह और उसकी एक वार्षीय योजना देखते ही बनती है

“घिरी गोडा हो हाबाम सी अज मैं
एराज हो हाबाम काम कोम दो
पोय तालाडाज हो हाबाम काम काम दो
डालिन् रे कामकोम हालाड तालाडाज
हो हाबाम तुमाल तालाडाज”

—अजी सुनते हो! उस पथरीली ऊँची जमीन को तुम जोत तो दो। उसमें हम कपास बोयेंगे। मैं स्वयं कपास बोऊँगी। मैं खुद कपास चुन-चुन कर डलिया में जमा करूँगी।

आगे के पद में वह कहती है—

“अजी सुनते हो! मेरे लिए एक छोटा-सा चर्खा ला दो। मैं कपास ओढ़ूँगी, रुई धुनूँगी। मेरे लिए तुम एक साड़ी बना देना और अपने लिए एक पगड़ी।”

वस्त्र-समस्या भी तो जीवन की एक समस्या है। संथाल बधू उस अपने श्रम से हल करना चाहती है। वह सब कर लेगी, अपने पति का वह इतना ही सहयोग चाहती है कि वह उस पथरीली ऊँची जमीन को जोत भर दे।

× × ×

भोजन और वस्त्र की समस्या हल हो जाने मात्र से ही कोई व्यक्ति सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकता। दाम्पत्य जीवन का सुख कुछ कम नहीं है, परन्तु मानव वहीं रुकना पसन्द नहीं करता। जो आगे प्रवाहित न हो, वह जीवन क्या? इस लिए प्रत्येक दम्पति के हृदय में सन्तति की कामना स्थान लेती है।

पुत्र की कामना एक ऐसी हूक है, जो किसी भी नारी को बेचैन करती है। सभी प्रकार के सुखों को भोगती हुई, पुत्र के अभाव में नारी भी रो पड़ती है उसका यह विश्वास जो है कि :

“एक सौ अमवा लगवली सवा सौ जामुन हो
ओहो, रामा तब हूँ न बगिया,
सोहावन यक रे कोयल बिनु
एक कोरा लिहलौ मैं भैया,
दूमरे कोरा भनीजा हो
ओहो, रामा तब हूँ न गोदिया,
सोहावन अपना बालक बिनु”

—बाग में एक सौ आम और सवा सौ जामुन

के पेड़ हैं, फिर भी एक कोयल के बिना बाग सुन्दर नहीं लगता।

मैं एक ओर भाई को, दूसरी ओर भतीजे को लिए हुए हूँ, फिर भी मेरी गोदी बिना अपने बालक के सुन्दर नहीं लगती।

पुत्र हीन नारी जब देखती है कि अन्य स्त्रियों के तो कई-कई बच्चे हैं, तब उसका अभाव और गहरा हो जाता है :

“कोइ को दिए दुइ चार, त कोहू का दम-पाँच हो
पै मोहि राखेउ ललचाइ त एक ललन बिनु
त एक खेलन बिनु”

सन्तानहीन माँ किम देवता के पाम पहुँच कर याचना नहीं करती, कौन-सी मानता है, जिसे नहीं मनाती। उसकी एकान्त कामना यही तो रहती है कि शिशु को गोदी में लिटा कर दूध पिला सके।

वह काली जी के मन्दिर में यही तो कहती है कि :

“आइो जो ले मने आँचल न दीनो
कदियन भीजी म्हारी काँचली जी, काला”

हे काका ! आज तक यह सौभाग्य प्राप्त न हुआ कि अपने बच्चे को मैं गोद में आड़ा लिटा पाती, उस पर आँचल डाल कर दूध पिला पाती। मैं कैसी अभागिनी हूँ जो मेरी छाती आज तक दूध की बूँदों से नहीं सीगी है।

“गंगा जमुनवा के बिच का तेवइया,
एक तपु करइ हो
गंगा ! अपनी लहर हमै देतउ,
मैं मझदार डूबति हो”

गंगा पूछती है :

“कै तोहि मास-पसुर दुख, कै नेहर दूरि बसैं
तेवई कि तोर हरि परदेश कवन दुख डूबउ हो ?”

स्त्री उत्तर देती है :

“गंगा ! न मोरे सासु-पसुर दुख,
नाहीं नेहर दूरि बसैं
गंगा ! न मोरे हरि परदेश,
कोखि दुख डूबब हो”

गंगा प्रसन्न हो जाती है और आगे वह कहती

है—तू अब अपने घर लौट जा। मैं डूबने के लिए तुझे अपनी लहर नहीं दूंगी। लेकिन डूबने की जरूरत भी न पड़ेगी। कारण, आज के नवें मास में तेरे बच्चा पैदा होगा।

× × ×

युवती कन्या भी जीवन की एक समस्या है। युवक पुत्र की चिन्ता नहीं, उसका विवाह कहीं हो सकता है, कभी हो सकता है; मगर युवती कन्या के विवाह का उत्तरदायित्व माता-पिता के लिए भारी होता है। सबसे बड़ी और कठिन समस्या होती है योग्य वर की खोज। लोक गीतों में जीवन की इस समस्या का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है।

एक गीत का भाव है—बाप सो रहे हैं, माँ पंखा झल रही है। किवाड़ की ओट से बेटी ने पूछा “बाबा ! आपको नींद खूब आ रही है न ?” पिता ने उत्तर दिया “बेटी, कुछ-कुछ सो रहा हूँ, कुछ-कुछ जाग रहा हूँ। जिमके घर में कुमारी कन्या हो, उसे भला नींद कैसे आ सकती है।”

योग्य वर खोजने की समस्या को हल करने में पक्षियों में भी सहायता ली जाती है। छत्तीसगढ़ी एक लोक गीत में माँ एक सुअना को योग्य वर खोजने का काम सौंपती है :

“मावन सुगना में गुर-धुड पालेउ,
चैत चना की दाल
अब सुगना, त भयउ मजुगवा,
बेटी क वर हेरइ जाउ
जो वर सुगना देखेन सुन्दर,
जे करि चाल गम्भीर
जेहि घर सुगना तु सम्पत्ति देखेन,
वहि घर रचै न आवउ”

—हे सुअना ! मैंने तुझे सावन में घी-गुड़ और चैत में चना की दाल खिला कर पाला है। अब तू बड़ा हो गया है। जाओ मेरी बेटी के लिए वर ढूँढ़ ला। जिस वर को तू सुन्दर देखना, जिसकी चाल में गम्भीरता हो, जिसके घर में सम्पत्ति हो, वहीं मेरी कन्या का विवाह रच देना।

× × ×

ग्राम जीवन की एक दूसरी समस्या है पत्नी का

ल्याग। पुरुष स्त्रियों के साथ सदैव ही अत्याचार करता आया है। पुरुष की भ्रमर-वृत्ति एक पत्नी के रहते हुए भी, दूसरी नारी के प्रति उसे खींच ले जाती है। सबल होने के कारण वह पूर्व पत्नी को छोड़ कर दूसरी से शादी कर लेता है। त्यक्ता की दयनीय स्थिति और उसकी मनोवेदना की कल्पना सहज की जा सकती है। लोग गीतों में इस समस्या को भी गूँथा गया है।

एक मन्थाली परित्यक्ता नवयुवती की मनोवेदना नीचे के गीत में छलक आई है—

“हारा हारा चालोम ओझाकू, दाङ्गल लेका पिराडा,
चदाकू जुरी हो जुरी बाय बोल कान,
सेंगेल लेका एग जुरी, चाँद-मा लेका होयोल
पासे जुरी हो जुरीम हिसमत्र कान।”

सुन्दर सजा हुआ घर है, ऊँचा ओमारा है, प्रियतम ! फिर भी तुम अन्दर नहीं आ रहे हो। अग्रि शिखा-सी सुन्दर पत्नी है, चाँद-मा पुत्र भी तुम्हारे है। प्रियतम तुम कहीं मेरी सौत तो नहीं ला रहे हो ?

पति की अपेक्षा ने सन्देह को जन्म दिया। सन्देह सत्य निकला। उसके पति ने एक दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया है। पूर्व पत्नी को छोड़ दिया है। बेचारी परित्यक्ता कितनी दुःखी है। इसका अनुमान कौन कर सकेगा ?

जब पति अपनी को ले ही आता है, तब जैसे उसका स्वाभिमान जाग्रत हो उठता है और वह कहती है :—

“अच्छा ठीक है। तुम मुझे छोड़ना ही चाहते हो, तो मुझे छोड़ दो। मेरे भाई-बापू तो इसे पसन्द ही करेंगे, क्योंकि मुझ से उन्हें बार-बार बधू-शुल्क मिलेगा। मगर, अगर तुम मुझे छोड़ते हो, तो मुझे मेरा कौमार्थ लौटा दो।”

‘मुझे मेरा कौमार्थ लौटा दो’—इस एक वाक्य में क्या नहीं कह दिया गया है। नारी के हृदय की सम्पूर्ण वेदना जैसे साकार हो कर इस वाक्य में आ बैठी है। इस वाक्य में एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर पुरुष कभी नहीं दे पाएगा।

× × ×

प्राप्त्य जीवन में अनमेल विवाह भी एक समस्या

से कम नहीं है। कहीं पति वृद्ध है और पत्नी नवयुवती, तो कहीं पत्नी नव युवती है और पति बच्चा। ऐसे अनमेल विवाह भी लोक गीतों का विषय बन जाते हैं—

“मयके मे आया गए चार मुसाफिर
बोले सखी जे को अपना
कै गोरी तेरा भाई भतीजा
कै जे तुम्हारे लालना ?
ना ये मोरे भैया भतीजा
जन जैयो हमारे जीवना।”

इसी प्रकार साम-जटानी-ननद के व्यवहारों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक लोक-गीत हैं, जिनमें उनकी क्रूरताओं की ओर संकेत किया गया है। कुछ गीतों में उनके प्रेम पूर्ण व्यवहार का भी जिक्र रहता है। फिर भी साम कृष्ण व्यवहार जीवन की एक समस्या बन कर उपस्थित होता है। सभी प्रान्तों के लोक-गीतों में इस प्रसंग का उल्लेख मिलता है।

‘शरीबी’ स्वयं एक समस्या है। उसका वर्णन भी लोक गीतों में मिलता है। शरीबी के कारण लोग कर्ज लेते हैं। कर्ज के कारण कठिनाइयाँ और नदती है। देने वाला दुर्व्यवहार करता है। इन विषयों में सम्बन्ध रखने वाले भी अनेक लोक-गीत मिलते हैं।

इस तरह यह देखा जा सकता है कि जीवन की अनेक समस्याएँ लोक-गीतों में शरण लेती हैं।

हाँ एक बात और ध्यान देने की है। लोक-गीतों में वर्णित ये जीवन की समस्याएँ नारी की वाणी में सुखर बनी हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के ही कण्ठों में प्रायः हमारे लोक-गीतों-पलते आए हैं। स्त्रियों ने ही विविध अपने कामों में गीतों की सहायता अधिक ली है। विविध संस्कारों के अवसरों पर नारी कण्ठ ही लोक-गीतों में सुखरित हो उठते हैं। इस लिए लोक-गीतों में जो जीवन की समस्याएँ उपस्थित होती हैं, वे प्रायः स्त्रियों की समस्याएँ हुआ करती हैं।

लोक-गीतों की ये जीवन-समस्याएँ आज भी समस्याएँ बनी हुई हैं। कभी वे समाप्त भी होगी या नहीं, इसका उत्तर देना भी एक समस्या है।



कला-चर्चा

(१)

नयी पीढ़ी के चित्रकारों से

आजकल आर्ट स्कूल में जो कलाश्यायी स्टीन लाइफ, लाइफ पोर्ट्रेट, प्वांटिक, एनाटोमी और लैंडस्केप के ऐम नमूनों के पीछे लगे हैं, जो अन्तः स्फूर्त भावनाओं की अभिव्यक्ति का निर्माण न होकर कोमल अनुकूलिता का माध्यम हैं। अतः ऐम सर्जन के वे स्वयं जितने उत्तरदायी हैं उतने ही उत्तरदायी होते हैं आर्ट स्कूल के संचालक तथा आर्ट कक्षा के पाठ्यक्रम निर्धारित करने वाले अधिकारी गण।

उन विद्यार्थियों से यदि यह प्रश्न पूछा जाये कि भाई, आप किम प्रकार के कलाकार बनना चाहते हैं? इसके उत्तर में वे अवश्य कहेंगे—हमें अमनीन्द्र, नंदलाल, दलाल, अलमेलकर, रायबा, मातवलेकर आदि के चित्र अच्छे लगते हैं; और हमारी हार्दिक इच्छा है कि हम भी उनकी तरह प्रसिद्ध चित्रकार बन जाएँ। आधुनिक कला विद्यार्थी हमें अमृता शेरगिल, रजा, मनीश गुजराल, दुसैन, वेन्द्रे, घोष इनके नाम गिनाते हैं।

इन उपर्युक्त श्रेष्ठ कलाकारों ने भी अपनी प्राचीन कला-परम्परा तथा प्रचलित कला-प्रवाहों का अध्ययन कर चित्रकला के मूल सिद्धान्तों को उन्नत करने की भगवत् चेष्टा की है। उन्होंने पार्श्वाल्य, आधुनिक एवं भारतीय प्राचीन कला के गुणों-अवगुणों की बहुत सूक्ष्मता से जाँच-पड़ताल की और उनका गम्भीर मनन-अध्ययन किया। यदि किसीको सिद्ध गायक बनना होता है, तो वह तदनन्तर संगीत-साधना में अपने को पूर्णतया विलीन कर देता है; उस कला के प्रचलित-अप्रचलित सिद्धान्तों के साथ वह नये तत्वों की भी खोज करता है, तब कहीं जाकर वह साधक कहलाने के योग्य बनता और गायक कहलाने में उसे गर्व की पत्ती मिलती है।

आर्ट कक्षा के विद्यार्थी बराबर यही सोचते रहते हैं कि येन केन प्रकारेण डिप्लोमा हासिल करेंगे और उस के बाद बन जाएँगे चित्रकार। अतः वे इसी आयोजना में

कैपे रहते हैं कि किसी आमान तरीके से उन्हें मान्यता मिल जाय। नये पश्चात् अपनी तरककी के लिए वे गुट बना कर अपने ही नये-पुराने चित्रकारों पर आरोप-प्रत्यारोप करते हैं। ये विद्यार्थी भी इस दुष्प्रवृत्ति के शिकार होकर चित्रकला की खोजपूर्ण आधुनिक-प्राचीन बारीकियों का अध्ययन करने में अपने को कमजोर पाते हैं। वे अपने पास अल्प ज्ञान के बल पर चित्रकला की परम्परागत ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को मनमानी पद्धति से बयान कर देते हैं। आधुनिक चित्रकला का ऐतिहासिक और विकास-क्रम उचित ढंग से सामने न आने के अभाव में कलाकार विद्यार्थी कला की जटिलता को भूल कर शीघ्र ही कला-चोटी पर पहुँचने के रंगीन सपने देखने लगता है। यही रंगीन सपने उसके मार्ग का सबसे बड़ा अवरोध बनते हैं। में यह दावा करता हूँ कि सृजनशील कला-कृति पर्याप्त अध्ययन के बाद तथा कलागत सैद्धान्तिक अडचनों को लोंघ कर ही बनती है। और इस अलभ्य साधना के लिए कलाकार को अपना पूरा जीवन कलार्पण कर देना पड़ता है, तब नममें आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मशक्त शैली में प्रफुटित होती है।

कई बार बड़े ऊनजलूल प्रसंग नपस्थित होते हैं। एक पिता अपने लड़के को आर्ट स्कूल में भर्ती कराना चाहते थे केवल इसीलिए कि दूसरे अन्य विषयों में उसका दिमाग चलना नहीं; अतः उसे पेंटिंग ही सिखाया जाए तो अच्छा रहेगा। मैंने उत्तर में हँस कर जवाब दिया था आपका यह सोचना कि पेंटिंग के लिए बुद्धि की कतई जरूरत नहीं है, एकदम गलत है। कला का आत्ममात् करने के लिए दिमाग के साथ लगन की भी आवश्यकता रहती है।

इन दिनों माडेल को सामने रख कर अनुकृति पोर्ट्रेट चित्रण करने की प्रथा तेज़ी से चल रही है। यह प्रथा कभी कला नहीं बन सकती। गुफाओं में चित्रांकन

करने वाले कलाकारों की उसे अन्तः-स्फूर्त भावाभिव्यक्ति करने की जो प्राकृतिक देन है चित्रकला के मूल घटकों को प्रभुत्व में मनुजित कर कैनवास पर नतारना ही कला है। अनुकृतियों का ढेर भर निर्माण चित्रकला के स्तर को कभी ऊँचा नहीं उठा सकेगा।

कुछ दर्शकों का यह खयाल होता है कि चित्रों की कलात्मक श्रेष्ठता चित्र निकालनेवाले व्याक्त के मस्तिष्क व प्राक्क आर्ट अथवा हूबहू नकल करने के विचार पर निर्भर है। परन्तु इसमें एक बड़ा अनर्थ होने की संभावना पैदा हो सकती है और वह यह है कि प्राक्क आर्ट की सच का पचार करने से सृजनात्मक कला के मूलभूत घटक अन्धकार में लुप्त हो जाएँगे और आदि चित्रकार में लेकर पुनर्जागरण काल पूर्व के चित्रकारों की कला साधना पर—जिन्होंने अन्तःस्फूर्त कलाभिव्यक्ति में दीर्घ काल तक योगदान दिया—व्यर्थता का प्रमाण हो जाएगा। प्राक्क आर्ट की यह कलाहीन कारीगरी भले ही आपकी स्मृति में घर कर ले, तथापि वह कला की कक्षा में शामिल नहीं हो पाएगी।

रंग तथा रंगाने की पद्धति के बारे में विस्तार-पूर्वक लिखा गया है। विद्यार्थियों का जितना समय रंगों के अध्ययन में व्यतीत होता है, उससे कम समय कला के मूल तत्वों के अध्ययन में खर्च किया जाता है। जब आप अध्ययन करने वाले छात्र भविष्य में भाषा पर आधारित पूर्ण वाणी में यदि कुछ कह न पाएँगे तो उनका माता अम्मा ही बेमतलब की चीज हो जाएगा। वैसी ही बात कला-शिक्षा के लिए लागू की जा सकती है। कला के शुद्ध तत्वों का अध्ययन कर तथा उनको कसौटी पर परख कर ही चित्रकार कला को आगे बढ़ा सकता है।

वृत्त में विद्यार्थी आदि मानव कलाकार के अन्तर्भावामिभूत चित्रांकन में रस प्रदण करने का ज्ञान पाते हैं। केवल उम्र उन विद्यार्थियों के भीतर का कलाकार पुष्ट नहीं हो सकेगा। इसके साथ ही उसे उन चित्रकारों की परम्परागत कला साधना का, उनकी मौलिक सृष्टिबुद्धि का, जो पुनर्जागरण काल से प्रेरणा पाती रही और निरन्तर कला विकास में महायक होती रही है, अध्ययन करना चाहिए। जो कला-विद्यार्थी सृजनशील कला-पथ पर अग्रसर होता है, उस दूमरो से प्रभावित होने का भय रखने की कोई जरूरत नहीं।

सृजनशील कलाकार कभी नकली या भूठी कलाकृति नहीं बनाएगा। वह देखी गई कलाकृति से कुछ प्रदण करेगा अवश्य; किन्तु अपनी तीव्र निरीक्षण शक्ति तथा स्वानुभूति व सान्ने में उसे ढाल कर पूर्णतया अनोखी, मौलिक कृति का निर्माण करेगा।

अतः कला विद्यार्थियों का यह नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि प्रत्येक शताब्दी के साधक चित्रकारों की कला का अवश्यमेव अध्ययन करें। इन कृतियों के अध्ययन से उनके ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार होगा। परन्तु यह अध्ययन केवल इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया जाए कि वे चित्रकार विकास की जिम मंजिल पर थम गए, कला के रुके हुए उस विकास को अपने स्वयं के अध्यवसाय से, अपने नए प्रयोगों से आगे निरन्तर आगे ढकलने का महत् कार्य करें।

कुछ कलाधारी प्रचलित कलाप्रवृत्तियों तथा कलाकृतियों को पसन्द नहीं करते। अतः वे उन कलाकृतियों को निम्न कोटि की मानते हैं। यह बात कितनी उपहामजनक होगी कि याद कोई मात्सी, पिकासो तथा ब्रेक आदि चित्रकारों की कलात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन नहीं करना चाहेंगे; क्योंकि क्यूबिज्म के जन्मदाता मिज्ञानी के पश्चात् मार्ग उत्तरदायित्व इन्हीं चित्रकारों की कृतियों ने अपने ऊपर लाद लिया है। सन् १९०६ से लेकर १९१४ तक के काल में पिकासो तथा ब्रेक दोनों ने मिल कर सहयोगी ढंग से कलात्मक प्रयोग किए और चित्रकला में नए मोड़ों का प्रादुर्भाव किया। ब्रेक की कलाकृतियाँ अनुकृतियों न होकर मौलिक सृजनशील कृतियाँ हैं।

इन दिनों कलाधारी को अनुकृति के प्रति ईमानदार न रह कर उत्तरात्तर मौलिक कला-निर्माण के हेतु नए-नए प्रयोग करने चाहिए। अर्थोत्पादन के प्रलोभनों को तालाजिल दिए बिना ठोस, चिरन्तन कला का उद्भव कदापि संभव नहीं।

आधुनिक कला को समझने के लिए सर्वप्रथम अपने मस्तिष्क को तैयार करना नितान्त आवश्यक है। दिमाग को सादृशत शृंखलाओं में मुक्त करने के बाद ही आधुनिक कला के अवलोकन का विशुद्ध आनन्द अनुभव किया जा सकता है।

चित्रकला में रस सौन्दर्य

सौन्दर्य का सृजन ही कला है। निर्मितिक

आनन्द सृजन-ऐसा श्रेष्ठ वरदान है, जिसमें मानव अमर पद के आनन्द को महसूस कर सकता है। मल्या-न्वेषी सृजन का आनन्द अनुभव कर आनन्दविभोग हो जाते हैं। जो सौन्दर्य का निर्माता है, मन्त्रे अर्थों में वही कलाकार है।

मानव पंचेन्द्रियों में ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान अनुभवों से परे नहीं है। कलाकार पाठ अनुभूतियों का संचय करता है तथा उन्हें विभाजित कर सबल अनुभूतियों को कैवलीय पर चित्रित करता है। प्रकृति के अन्य जीवों की अपेक्षा मानव-दृष्टि अधिक संवेदनशील और तीव्र होती है और कलाकार को सामान्य मानव से कुछ अतिरिक्त दृष्टिगोचर होता है; आबल चराचर में चलने वाले खेल के शाश्वत तत्वों को वह अपनी अंतर्धामी आँखों से पकड़ लेता है। इसीलिए कहा गया है कि कलाकार की अनुभूतियों प्रखर होती हैं। चित्र-कला में दृष्टि का सबसे अधिक है दृष्टि में रंग, रेखा आकार एवं आयतन दृष्टिगोचर हैं अपनी तीव्र अनुभूतियों को चित्रित कर कलाकार इन्हीं घटकों से लयबद्ध रचना करता है। संतुलनपूर्ण लयबद्ध रचना ही कलाकृति है। कलाकृति का यह विशुद्ध स्वरूप प्रत्येक कृति में होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

चित्रकार भी समाज का अंग है। प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप में समाज के कुछ संस्कारों का प्रभाव उस पर भी होना स्वाभाविक है। उसके कुछ निजी विचार होते हैं; और जिस सामाजिक अवस्था में वह जीवन यापन करता है, उसका प्रभाव उसकी कृतियों में कहीं-कहीं व्यक्त हो उठे तो यह उसका दोष नहीं। कलाकृति का रस स्वादन करते समय इन बातों को बालना ही उचित है। कलाकृति का मूल्यांकन करते समय चित्रकला के घटकों की तीव्रानुभूतिपूर्ण लयबद्ध रचना करने का कलाकार का ध्येय कितना सफल हुआ है, इसे सोचना होगा। क्योंकि कलाकार की सृजन शक्ति दृष्टि के अन्तर्गत अनुभूतियों की प्रखरता से लयबद्ध रचना करने की क्षमता पर निर्धारित होती है। प्रखर अनुभूतियों से ओतप्रोत लयबद्ध रचना ही सौन्दर्य है तथा इस पर प्रभुत्व पाकर अपनी विशेष शैली से (Style) कलाकार चित्र की बनावट करता है। दो कलाकारों की अभिरुचि, स्वभाव तथा स्थितियों में हमेशा अन्तर रहता है। अतः उक्त दोनों की कृतियों में भिन्नत्व

का आविष्कार पाया जाता है। लेकिन इसमें चित्रकारी के मूल स्वरूप में तथा सिद्धान्तों में कोई फर्क नहीं पड़ता। सामान्यतः चित्रकला के मूलाधार एक रहते हुए भी भिन्न-भिन्न कलाकारों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को ध्यान में रख कर हम प्रदर्शनी में उन विभिन्नताओं का प्रदर्शन करते हैं। कुछ कृतियों रंगों की प्रधानता होती हैं, तो कुछ में आकारों की रचना प्रधान रहती है। कलाकार के निजी अनुभव तथा उसकी तीव्र अनुभूतियों ही कला में निष्ठा लाती हैं। रंग अथवा आकारों की विशेषता ही उस कलाकार की शैली विशेष (Style) होती है। रंग, रेखा, आकार आयतन आदि से आँखों द्वारा होने वाली अनुभूतियों पर ही चित्र की भूमिका बनती है। चित्रकला में अनुभूतियों को अपनी इच्छा के अनुसार अभिव्यक्त करने से सौन्दर्य का सृजन होगा यह सोचना गलत है। रंगों का धड़ले से थोपने से कोई चित्र नहीं बनता। तीव्र अनुभूतियों से निर्मित चित्रकला के रंग, रेखा आकार, आयतनों की रचना, संवाद, विरोधभाव और संतुलन आदि की लयकमता से ही कृति कलाकृति बनती है। हमें मदा इस बात का ध्यान रखना होगा कि चित्रकला के घटकों को अव्यवस्थित रख दिया गया है या उनमें दृष्टानुभूति के लिए किसी विशेष माध्यम की गुंजाइश रखी गई है। चित्र की बनावट जितनी अधिक सुन्दर, गुन्थीदार, एकात्मपूर्ण होगी, उतनी ही वह कृति प्रभावोत्पन्न बनेगी—सुन्दर बनेगी। रचना में उलझनों की मर्यादा होती है। जब गुन्थियों से बनावट खटकती है, तब गुन्थियों का सौन्दर्यात्मक मूल्य घट जाता है। जब कलाकार का दृष्टानुभव, सौन्दर्य के साक्षात्कार से सम्पन्न रहता है, तब चित्र घटकों की रचना में गतिशील सरलता का स्वाभाविक अस्तित्व स्पष्ट दिखने लगता है, यह बात अब निर्विवाद हो गई है। सौन्दर्य-साक्षात्कार का आनन्द और जीवन का संतोष इन दोनों में पर्याप्त भेद है। जो अपनी कला को दोषपूर्ण आनन्द के लिए सामान्य जनो की सस्ती अभिरुचि के अनुसार पेश करता है, वह चित्रकला की हत्या करता है, इसमें कोई संदेह नहीं। कलाकार अपनी अनुभव सिद्ध अभिव्यक्ति को सस्ते आनन्द की अपेक्षा अधिक महत्व देता है और इसी प्रकटीकरण में कला की महत्ता निहित रहती है।

दूसरी महत्व की बात यह है कि सत्य और

सौन्दर्य के बारे में काफ़ी भ्रम फैले हुए हैं। सत्य की खोज के लिए अनेक प्रकार के मार्ग उपलब्ध हैं। सौन्दर्य-पूर्ण कलाकृति में सत्य प्रकट होगा ही यह कहना सर्वथा अनुचित है। कला की सीमा में सत्य को स्थापित करने की आन्तरिक चेष्टा हो, तो किसी को कोई आपत्ति नहीं; लेकिन उसके आप्रद की जिद पकड़ना अप्रस्तुत है—अयुक्त है। कला में इस तरह से सत्य नहीं खोजा जा सकता है। यदि कोई कहे कि यह एम, एफ, हर्मेन का चित्र है, इसमें चित्रण की हुई माहला हमें प्रत्यक्ष कोई दिखा दे अथवा निसर्ग चित्रण में आकाश को पीला रंग देने पर वैसा आकाश देखने की कोई इच्छा करे या रत्ता का काला सूरज प्रत्यक्ष देखने को तड़पे, तो उसके लिए क्या उत्तर दिया जा सकता है? क्योंकि ये सब असंभव बातें हैं। सौन्दर्य में सदा व्यावहारिक सत्य का अभाव रहता है। व्यावहारिक सत्य चित्रकारिता में भ्रमपूर्व तथ्य है और उसे लेकर आप्रद करनेवाले न तो सत्य समझते हैं और न ही सौन्दर्य।

कला-कृत में सौन्दर्य समझने के लिए व्यवहारिक और तात्विक सत्यों को नजरअन्दाज करना जितना आवश्यक है, उतने जीवन के अर्थपूर्ण अनुभव, परिचित मोहक अनुभूतियाँ, भ्रमपूर्ण संस्कार, जीवन के उपकारक ध्येय, रोमांचन महदयता, क्षणिक उत्तेजित अवस्था आदि सबको त्यागना भी नितांत आवश्यक है। चक्षु से चित्र में चित्रित अनुभूतियाँ प्रदण करने की शक्ति बड़ा कर, निर्मल मन से सौन्दर्य को परखना सीखना चाहिए। इस भूमिका से ही सौन्दर्य का साक्षात्कार होगा। और साक्षात्कार में वह शक्ति है कि जिन असंगत तथ्यों का त्याग हो गया है, उनका न दुःख होगा न भय। सौन्दर्य के साक्षात्कार के कारण आप मोह एवं अहं को शून्य मानने लगेंगे और चिंता, अभाव, निराशा, विफलता, लुप्तता से दर्शक सदा तटस्थ रह सकता है। साक्षात्कार पाने के लिए व्याक्त में नयी दृष्टि चाहिए, जो किसी पूर्वाग्रह से दूषित न हो और साक्षात्कार उस सत्य को प्रदण करने का उसमें उचित साहस भी होना अत्यंत आवश्यक है।

राम मन्दिर गली,
तिलक पुतला, नागपुर

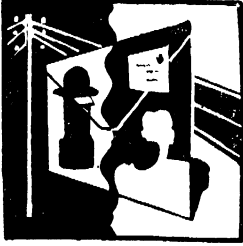
—भाऊ समर्थ

(२)

अलवर का संग्रहालय

अलवर का संग्रहालय महाराजा अलवर की तीन संस्थाओं को मिलाकर बनाया गया है। ये तीन संस्थाएँ हैं; पुस्तक शाला, चित्र शाला और सिलेदखाना (आयुधालय) इस संग्रहालय को १९४० ई. में बनाया गया था। इस संग्रहालय को बनाने का श्रेय श्रीयुत हर्वे को है जो कि नव समय अलवर राज्य के प्रधान मन्त्री थे। इस संग्रहालय में बहुत सुन्दर चित्रों का संग्रह है। इस संग्रहालय में मुगल और राजपूत शैली के ३००० चित्रों का संग्रह है। इस संग्रहालय में कई ऐसे चित्र हैं जिन्हें कि मुगल दरबार में बनाया गया था। इन पर मुगल दरबार की मुद्रा अंकित है और उन पर चित्रकारों का नाम भी लिखा हुआ है। इन चित्रों में एक चित्र जहाँगीर का है। यह चित्र अली अहमद देहलवी का बनाया हुआ है। एक चित्र शाहजहाँ का है। इस चित्र को बादशाह के दरबार के चित्रकार अबुल हसन ने बनाया है। एक चित्र हुमायूँ का भी है। इस चित्र में उसने ईरानी चोगा और पगड़ी पहनी हुई है। यह चित्र संभवतः उस समय बनाया गया था जब कि उसने ईरान के शाह के दौ शरण ली थी।

इस संग्रहालय में हिन्दी, संस्कृत और फ़ारसी की पुस्तकों का अद्भुत संग्रह है। इन पुस्तकों की संख्या लगभग ६००० है। इसमें 'भागवत' और 'गीत-गोविन्द' का भी संग्रह है। ये पुस्तकें बड़ी सुन्दरता से लिखी गई हैं। इन पुस्तकों में एक पुस्तक है 'वाक्याते बाबरी'। इस पुस्तक का हुमायूँ के राज्य काल में तुर्की भाषा से फ़ारसी में अनुवाद किया गया था। इस पुस्तक को महाराजा विनयसिंह ने ५०००) दे कर खरीदा था। इन पुस्तकों में फ़ारसी का 'शाहनामा' भी है। इनमें बाद की मुगल शैली के चित्र हैं। महाराजा विनय सिंह ने शेख सादी की पुस्तक 'गुलिस्तान' का आगा मिर्जा देहलवी से लिखवाया था और उसमें दरबारी चित्रकारों से चित्र बनवाए थे। इस पुस्तक के लिखवाने और चित्रण आदि में उन्होंने एक लाख पच्चीस हजार रुपये खर्च किए थे। इस संग्रहालय में जो अस्त्र-शस्त्र रखे हुए हैं, उनका कला और इतिहास दोनों की दृष्टि से बड़ा महत्व है। इनमें से कई हथियारों के नाम अत्यन्त विचित्र हैं।



हिन्दी पत्री

(१)

‘अजन्ता’ का जुलाई-अगस्त अंक देखा। आपकी संपादकीय टिप्पणी ‘धीरे धीरे या जनदवाजी’ पढ़ गया। आप समय-समय पर हिन्दी के सम्बन्ध में टिप्पणियाँ लिखते रहते हैं, यह देख कर आश्चर्य होती है। यह भाग्यवर्ष एक अनोखा देश है। जहाँ अपने देश की भाषा की उपेक्षा हो रही है और विदेशी भाषा का सम्मान। लगता है हिन्दी प्रेमियों को भी कुछ समय तक जागरूक रहना पड़ेगा और लोकमत बनाना होगा। आप तो यह कार्य कर ही रहे हैं।

वर्धा

—रामेश्वरदयाल दुवे

(२)

आपकी कृपा से मुझे प्रतिमाम ‘अजन्ता’ के दर्शन हो जाया करते हैं। आज जुलाई-अगस्त अंक मिला। इस पत्रिका को मान्य एवं पुरस्कृत लेखकों की मजीब लेखानियों से प्राप्त नित नूतन सामग्रियों से विभूषित कर हिन्दी के महद भाष्य क दिग्गज को आलावित करने में आप जम लगन तथा सफलता के साथ अग्रसर होते जा रहे हैं नभी क फन स्वरूप आज ‘अजन्ता’ अधिकाधिक लोगों के अध्ययन का विषय बन बैठी है अतः इस स्तुत्य प्रयास के लिए हिन्दी जगत आपका ऋणी है।

वाराणसी

—ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

(३)

‘अजन्ता’ का जुलाई-अगस्त ‘५६ का संयुक्त देख कर काफी प्रसन्नता हुई। आपका संपादकीय मुझे बहुत अच्छा लगा। मैं आप के विचारों में पूर्णतः सहमत हूँ कि जब तक प्रांतीय भाषाओं का अध्ययन अध्यापन नहीं होगा तब तक हिन्दी भाषा की गोद नहीं भरेगी। समस्त प्रांतीय भाषाएँ ज्ञान की गंगा के थन हैं जिनसे संस्कृति का मीठा दूध अनवरत स्रवित होता रहता है। ‘अजन्ता’ को जब मैं उठाकर पढ़ने लगता हूँ तो ऐसा

पता चलता है मैं अन्तर्प्रान्तीय भाषाओं के संगम स्थल पर पहुँच गया हूँ। आहिन्दी भाषी प्रान्त से ऐसी समवाय पत्रिका निकाल जिसमें उर्दू, भोजपुरी, राजस्थानी, तेलुगु आदि भाषाओं के साहित्य और साहित्यकारों का जीवन दर्शन हो, जैसा कि प्रस्तुत अंक है—सबसे अधिक आप हिन्दी भाषी-पत्रों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं।

अध्यक्ष : हिन्दी विभाग

गवर्नमेन्ट डिप्टी कलेज

बूंदी, राजस्थान

—नरेन्द्र कुमार अनावत

(४)

‘अजन्ता’ का जुलाई-अगस्त अंक मिला। रचनाएँ मुरचि-मरपन्न, ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक हैं। सामग्रियों के चयन में कुशल सम्पादन कला की स्पष्ट झलक मिलती है। इसी प्रकार संपादकीय भी उतना ही सुन्दर मुलका हुआ और विचारोत्तक है।

लेखों में ‘बुद्ध का अनात्मवाद और पुनर्जन्म’ सर्वश्रेष्ठ है। श्री रांगेय राघव की ‘वैष्णव मन्दिर का गरुड स्तम्भ’ शीर्षक कविता। इस अंक की सबसे कोमल और विशिष्ट कृति है।

अलका प्रकाशन,

पो० खगड़िया

जिला मुंगेर

—जितेन्द्र कुमार

(५)

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि ‘अजन्ता’ नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। ईश्वर करे दक्षिण भारत में ‘अजन्ता’ के चित्रों की भाँति यह भी अपने ‘अजन्ता’ नाम को सार्थक कर फले फूले।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय

गोरखपुर

—गोपीनाथ तिवारी

(६)

जून का अंक मेरे हाथों में है। आप के सर्वतो-मुखी दृष्टिकोण की जितनी भी पश्चमा की जाए थोड़ी है। आप केवल कलात्मक कृतियों व द्वारा मनोरंजन की ही सामग्री नहीं प्रस्तुत करते हैं, प्रत्युत उच्च कोटि के विविध विवेचनों द्वारा सामान्य एवं गहनीय ज्ञान की पिपासा भी शान्त करते हैं। न जाने कहीं कहीं से खोज कर ऐसे लेख प्रकाशित करते हैं कि बड़े-बड़े शोधकों की भी बुद्धि चकरा जाती है। प्रस्तुत अंक के प्रायः सभी लेख इसके उदाहरण हैं; फिर भी 'चीन में बौद्ध साहित्य की विपुल शान्ति' 'भारतीय राज्यों की वित्तीय व्यवस्था आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

आप के संपादकीय विचार तो जगमगाते रहते ही होते हैं। राष्ट्रीय भाषा हिन्दी की जैसी श्लाघ्य मवा आपने की है, और कर रहे हैं, अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी की हित हानि देख कर आप तिलमिला उठते हैं मानो अपने शरीर पर ही अघात हो रहा हो। आपके प्रतिपादन की निर्भीक शैली अत्यन्त प्रशंसनीय है, साथ ही आपके अमूल्य सुभाव प्रदृश्य हैं। इस अंक में 'लेखकों की सहकारी समितियाँ' शीर्षक विचार के सुभाव बड़े ही उपादेय हैं।

प्रस्तुत अंक का गव में महत्व पूर्ण अंश है 'नीर-चौर'। १९५६ के वार्षिक मन्दिर ग्रन्थ 'भारत' की इसी वर्ष के 'त्रिटेन' स समीचीन तुलना करते हुए आपने जो अतीव उपयोगी परामर्श दिए हैं वे अत्यन्त स्पृहणीय हैं। इससे भी बढ़ कर, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'बेसिक हिन्दी वोकेबुलरी' पर दिए गए विचार हैं। इस प्रकार के अल्प परिश्रम द्वारा तैयार किए गए अपूर्ण एवं त्रुटिपूर्ण ग्रन्थों से राष्ट्रीय भाषा को लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक हो सकती है। अन्य लोगों की दृष्टि में हिन्दी और उसके विद्वानों का स्तर गिर जाएगा। इस सम्बन्ध में आप की भाषा बड़ी ठीकती हुई, सार गभित और चुटीली है। विचार भी वैसे ही उत्तम हैं।

'अजन्ता' के 'अप्रैल-मई' अंक में 'आधुनिक हिन्दी के प्रारंभिक (बेसिक) व्याकरण' पर भी एक लेख निकला है। पता चला है कि वह पुस्तक बाजार में विक्रय के लिए नहीं भेजी जा रही है। इसी प्रकार इस पुस्तक की भी बिक्री रोक देनी चाहिए अन्यथा अहिन्दी भाषा भाषियों में उसकी अप्रतिष्ठा ही होगी। सरकार

को चाहिए कि ऐसी पुस्तकों का प्रणयन बहुत सोच समझ कर और अनुभवी व्यक्तियों द्वारा कराए।

जबलपुर

—त्रिपुरारि राम

(७)

गत ५-६ वर्षों से 'अजन्ता' को बराबर देखने का अवसर मिलता रहा है। 'अजन्ता' जिस ढंग में निकल रही है वह अपने आप में अद्वितीय है। अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त में हिन्दी की पात्रिका इतनी सुन्दर निकालना वास्तव में हिन्दी की उन्नति का प्रतीक ही मानना पड़ेगा। 'अजन्ता' को निकलते १२ वर्ष हो रहे हैं। उन्नी लम्बी आयु पात्रिकाओं की बहुत कम होती है। चार छः अंक प्रकाशित हुए कि बन्द हो जाती हैं। यह हिन्दी पात्रिका का सौभाग्य ही माना जाएगा।

जुलाई-अगस्त १९५६ का अंक मेरे सामने है। कविताओं का चयन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। "वैष्णव मन्दिर का गरुड़ स्तम्भ" नामक कविता हृदय को छूनेवाली है। 'अजन्ता' में लेख आदि बड़े ही महत्वपूर्ण होते हैं विशेष कर राजस्थानी साहित्य, तथा लोक-गीत की नाट्य कला पर कई लेख पढ़ने को मिले। इस अंक में 'गीता और गौधी जी, नामक अनबन्ध बहुत ही अच्छा लगा जिससे मेरे ज्ञान कोष में वृद्धि हुई है।

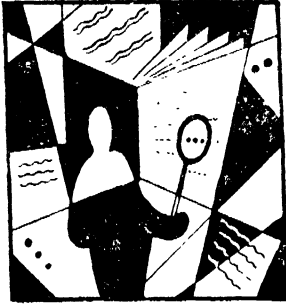
सम्पादकीय लेख तो वास्तव में हिन्दी के विषय में ही होते हैं जिसमें कई बातों का लेकर लेखनी उठाई जाती है। ये बातें दिखने में संभव छूटी होती हो प्रगत् बड़े मार्के की होती हैं। मैं नहीं जानता कि इतने अमूल्य तथा मुलफे हुए विचारों को कहीं तक उपयोग में लाया जाता है।

अंक को इतने मजबूत क निकालने में साधारणतः पाठक डमका अन्दाजा लगाए बिना नहीं रह सकता कि इस विषय में सम्पादक को कितना परिश्रम करना पड़ता है। जैसे एक कुशल कलाकार भिन्न-भिन्न रंगों को लेकर एक सजीव चित्र बना देता है वैसे ही एक माली रंग विरंगे फूलों को लेकर सुन्दर गुलदस्ता बना देता है।

उसी प्रकार सम्पादक महोदय "अजन्ता" में बड़े ही परिश्रम से सामग्री को जुटाकर तथा सुन्दर रचनाओं का चयन कर प्रकाशित करके वास्तव में पात्रिका को जीवन प्रदान कर रहे हैं।

मैं परमात्मा से प्रार्थना करूँगा कि 'अजन्ता' को दीर्घायु प्रदान करें और हिन्दी की सेवा करने का बल भी दें। हैदराबाद

—सत्यसेन गुप्त



वीर-वीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अज्ञानता' के नाम भेजी जानी चाहिए।]

आन्ध्र भारती

लेखक : बालशौरि रेड्डी

प्रकाशक : नागरी-प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,

द्वारा—कला-निकेतन,

पटना—४

मूल्य : ८.५०

प्रस्तुत पुस्तक में तेलुगु साहित्य को प्रारम्भ से अन्त तक इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है जिसमें हिन्दी-भाषियों को न केवल आन्ध्र साहित्य की विशेषताओं का अपितु उसके प्रमुख साहित्यकारों और पत्राक्तियों का परिचय प्राप्त होता है। प्रस्तुत पुस्तक में आन्ध्र साहित्य के प्रारम्भिक युग को 'अज्ञात युग' के नाम से कहा गया है। इस 'अज्ञात युग' के सम्बन्ध में इतना ही लिखा गया है कि इस समय के तीन शिलालेख प्राप्त होते हैं जिनमें इस बात का पता चलता है कि "युग में भी साहित्य लिखा गया।... परन्तु इस समय का समस्त साहित्य नष्ट हो चुका है।" इस 'अज्ञात युग' का प्रारम्भ ई. पू. २५ सन् से किया गया है और यह युग सन् १००० ई. तक जाता है। यह समय लगभग १००० वर्ष का है और इतनी बड़ी अवधि को 'अज्ञात युग' के नाम से कहना इस बात को प्रदर्शित करता है कि इस युग के सम्बन्ध में जिस प्रकार के अनुशीलन और अनुपन्धान की आवश्यकता है उसके लिए अभी गम्भीर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। तेलुगु साहित्य के उगलवध साहित्य का प्रारम्भ १००१ ई. से प्रारम्भ होता है और यह संस्कृत की 'महाभारत' के अनुवाद से होता है, यद्यपि यह अनुवाद इस प्रकार का है जो कि "भौतिक-सा" प्रतीत होता है। तीन कवियों

ने इस अनुवाद को पूरा किया इनमें सबसे पहले कवि नन्नय भट्ट थे जिनका नाम एक की गतनी से स्थान-स्थान पर "नन्नय भट्ट" मुद्रित हो गया है। लेखक ने श्रीनाथ की विहारी से तुलना इसलिए की है क्योंकि आन्ध्रवासी श्रीनाथ को "शृंगार रस का सम्राट्" समझते हैं परन्तु विहारी की विशेषता शृंगार रस के साथ-साथ छोट्टे-मे दोहे के छन्द में अपना समस्त विषय भर देने की है। पता नहीं यह विशेषता श्रीनाथ में है या नहीं। उसी प्रकार लेखक ने श्रीनाथ के सम्बन्ध में लिखा है : "उनका जीवनकाल भोग-विलास में मीठा, परन्तु बुढ़ापे में इनकी अब्दुल रहीम जैसी गति हुई।" अब्दुल रहीम खानखाना की आर्थिक स्थिति भोग-विलास के कारण नहीं अन्यधिक दान देने के कारण संपन्न हो गई थी। कवियों की पारम्परिक तुलना अन्यन्त सावधानी के साथ की जानी चाहिए, अन्यथा इसमें कई प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। तेलुगु साहित्य का स्वर्ण युग जिसको कि "रॉयल-युग" भी कहा गया है १५०१ से १७०० ई. तक है। राजा कृष्णदेव राय के दरबार में "आठ कवि" थे जिनको कि "अष्ट दिग्गज" के नाम से कहा जाता था। पता नहीं राज सभा के "नव रत्नों" के स्थान पर यह "आठ" की प्रथा किस प्रकार प्रारम्भ हुई। हिन्दी में भी उसी प्रकार कृष्ण-भक्त कवियों में "अष्ट-छाप" के कवि प्रसिद्ध हैं। आन्ध्र-साहित्य के इतिहास को पढ़ने से यह अनुभव होता है कि आन्ध्र-साहित्य का अधिकतर विकास राज-दरबारों में हुआ यद्यपि पोतन्ना ने अपनी 'भागवत' एक कृषक का जीवन व्यतीत करते हुए लिखी और कहा : "आम के कोमल पत्तों से सुकुमार काव्य-कुमारी को राजाओं के हाथों में सौंपने की अपेक्षा

जंगलों में अपनी पत्नी तथा सन्तान का पेट भरने के लिए खेती करना अच्छा है।” भारतवर्ष की अन्य भाषाओं के साहित्य में वैष्णव साहित्य में मुख्यतया कृष्ण-भक्ति का साहित्य है परन्तु आन्ध्र-साहित्य के विषय में लेखक प्रस्तुत पुस्तक में लिखते हैं : “...आन्ध्र में शैव और वैष्णव दोनों प्रकार के सम्प्रदाय परम्परागत चलते आ रहे हैं, परन्तु वैष्णव सम्प्रदाय में मुख्यतया राम-भक्ति का अधिक प्रचार हुआ है। आन्ध्र देश के आराध्य देव भगवान् रामचन्द्र माने जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि वे भद्रगिरि (भद्राचल) पर वास करते हुए यहाँ की रक्षा कर रहे हैं। आन्ध्र में मोलाम्बा का नाम उसी प्रकार आदर से लिया जाता है जिस प्रकार कि हिन्दी में मीरा का, परन्तु मोलाम्बा को “आन्ध्र की मीरा” कहना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि दोनों की विशेषताओं और चरित्र में बहुत भेद है। मोलाम्बा ने आन्ध्र में “रामायण” की रचना की है जब कि मीरा ने कृष्ण की भक्ति के जिन पदों की रचना की है उनमें मीरा का जीवन भी मिला हुआ है। आन्ध्र के राम-भक्ति के कवि रामदास को कबीर ने किस प्रकार राम-नाम का मंत्र दिया था, इस सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक में लिखा गया है : “...एक दिन जब रामदास भगवद्-भजन में लगे हुए थे : उस समय उन्हें यह पद सुनाई दिया :

“राम नाम का मन्त्र न जाने कलि-काल का भूत
साहब का घर दूर है बेजे सेल विकदूर”

यह ध्वनि रामदास के कानों में गूँज उठी। तुरन्त बाहर आकर देखा कि एक काषाय वस्त्र धारी फकीर रामदास के घर के सामने आकर रुक गया। यह फकीर और कोई नहीं कबीरदास थे। रामदास के आग्रह पर कबीरदास ने उन्हें दीक्षित किया।” हो सकता है कि जो पद ऊपर दिया गया है उसमें कुछ परिवर्तन हो गया हो परन्तु इस जनश्रुति से इस बात का पता चलता है कि भक्ति एक मात्र दक्षिण से नहीं आई-वह दक्षिण की ओर उत्तर से भी गई है। आन्ध्र में “महाभारत” की लोक प्रियता का ज्ञान तेलुगु की इस लोकोक्ति से हो सकता है : /

“तिगटे गारेलु तिनाखी
बिगटे भारत मुविनाजी”

अर्थात्—खाना है तो बड़े खाओ
सुनना है तो महाभारत को सुनो”

तेलुगु में तिकन्ना का “महाभारत” गद्य और पद्य दोनों में लिखा गया है और इस कारण उसे चम्पू काव्य कहते हैं। आन्ध्र-साहित्य में “अधिक्रीश पुराण और प्रबन्ध काव्य चम्पू ही हैं” क्योंकि वे गद्य और पद्य दोनों में लिखे गए हैं। तेलुगु में जिस काव्य में गद्य नहीं है उसे “निर्वचन” कहते हैं क्योंकि “तेलुगु में गद्य को वचन कहते हैं। जो काव्य गद्य (वचन) से मुक्त है उन्हें “निर्वचन” कहते हैं।” संस्कृत में और संभवतः भारत-वर्ष की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में “वचन” शब्द का प्रयोग गद्य के अर्थ में नहीं होता। तेलुगु के साहित्य के इतिहास को पढ़ने से यह अनुभव होता है कि तेलुगु के महाकवियों को जिस प्रकार साहित्यिक उपाधियाँ प्रदान की जाती रही हैं और इस समय भी संभवतः इसी प्रथा के अनुसार अब भी की जाती हैं वैसी उपाधियाँ भारत वर्ष की किसी अन्य भाषा के साहित्यकारों को नहीं प्रदान की गईं। किसी को “शब्द ब्रह्म”, किसी को “वाङ्मय ब्रह्म”, किसी को “गद्य ब्रह्म”, किसी को “प्रबन्ध परमेश्वर” और किसी को “आन्ध्र-कवि-पार्वभौम” किसी को “आन्ध्र नाटक पितामह” आदि की उपाधि प्रदान की गई है। जिस प्रकार हिन्दी के सन्त-साहित्य में कुछ मुसलमान कवि हुए हैं इसी प्रकार आन्ध्र-साहित्य में मुसलमान जुलाहा सिद्ध्या हुए हैं जिनके पद “आन्ध्र में बड़े प्रेम और चाव से गाए जाते हैं।”

आन्ध्र में नाटकों के विकास और अभिनय को प्रोत्साहन आन्ध्र के भूतपूर्व मुख्य-मन्त्री आन्ध्र केसरी श्रीयुत टी. प्रकाशम् जैसे महानुभावों से प्राप्त हुआ था। उन्होंने तेलुगु के “कीचक-वध” नाटक में स्वयं” द्रौपदी का वेश धारण किया था।” आन्ध्र में प्रगतिशील कविता को “अभ्युदय काव्य” कहते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में न केवल आन्ध्र-साहित्य के इतिहास को अपितु उसके विभिन्न पहलुओं को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। तेलुगु के आधुनिक साहित्य के विषय में जो कुछ लिखा गया है वह बहुत कुछ सरसरी तौर पर लिखा गया है। श्रियुत बालशोरि रेड्डी हिन्दी में आन्ध्र-साहित्य के सम्बन्ध में प्रशंमनीय कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार की पुस्तकों से जहाँ हमें प्रादेशिक भाषाओं के

साहित्य के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त होता है—वहाँ इससे हमें अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के अध्ययन की इच्छा उत्पन्न होती है और उनके लिए सम्मान की भावना जागृत होती है। पुस्तक की भाषा में कहीं-कहीं परिमार्जन और संशोधन की आवश्यकता है।

अफ्रीका के जंगलों में

लेखक : जान हंटर

अनुवादक : महेन्द्रपाल भाटिया

प्रकाशक : निशियाम प्रकाशन, नई दिल्ली

मूल्य : ३.००

शिकार के सम्बन्ध में हिन्दी में जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें यह पुस्तक अपना ही एक विशिष्ट स्थान रखती है यद्यपि यह जॉन हंटर की अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है। पुस्तक अत्यन्त सजीव और काव्यपूर्ण भाषा में लिखी गई है। लेखक एक जन्मसिद्ध शिकारी है; और उसका समस्त जीवन एक शिकारी के तौर पर ही व्यतीत हुआ है। उसके वन्य जीवन का अध्ययन विस्तृत और गहन है। वह अपने सम्बन्ध में लिखता है : “मैं अफ्रीका के पुराने शिकारियों में से एक हूँ और जो कुछ मैंने वहाँ देखा है उसकी पुनरावृत्ति अब किसी काल में होनेवाली नहीं है।...मैंने गैंडों और शेरों के शिकार के रिकार्ड कायम किए हैं और १४०० से अधिक हाथियों का शिकार किया है।...दूम्रो को यह बात भले ही बड़ी विचित्र-सी लगे पर हममें लेशमात्र भी अमत्य नहीं कि वन्य पशुओं का शिकार करते-करते मुझे उनसे अत्यधिक लगाव हो गया था और मैंने कई वर्षे उनकी प्रकृति तथा आदतों के अध्ययन करने में गुज़ार दिए।” लेखक ने १००० गैंडों का शिकार किया है। गैंडा इतना क्रोधी क्यों होता है इस सम्बन्ध में वह लिखता है : “...मैंने जंगल में एक शिकारी को स्थान-स्थान पर पड़े गैंडों के गोबर का बड़े ध्यानपूर्वक परीक्षण करके देखा और एक दिन उसने मुझ से कहा : “शिकारी, जानते हो ये गैंडे इतने गुमेले क्यों होते हैं? क्योंकि उन्हें सदा कब्ज रहती है। ये अपनी खुगक को अच्छी तरह चबाकर नहीं खाते और इस कारण इनकी पाचन-शक्ति खराब हो जाती है।” शेर की दुम के सम्बन्ध में लेखक

लिखता है “...आक्रमण करने से पूर्व शेर अपने सिर को तीन बार बल देता है और जहाँ उसके दुम में तीसरा बल पड़ा कि वह विद्युत्-गति से अपने शत्रु पर दूट पड़ता है।...शेर अपनी दुम को बन्दूक की नाल की भाँति सीधा और कठोर बनाकर एक ही झटके में आदमी को गजों दूर फेंक सकता है।” वह एक अफ्रीका के एक फनदार काले नाग के सम्बन्ध में लिखता है : “...इनमें सबसे अधिक भयंकर वह नाग था जो अपने विष को थूक की भाँति उछाल कर सीधा मनुष्य की आँखों में फेंक देता है। इस नाग का निशाना बड़े गजब का होता है और यह अपने विष को नौ फीट की दूरी तक फेंक सकता है। यह विष आँखों में या शरीर के किसी कटे अंग पर पड़ जाने से बड़ा ही घातक सिद्ध हो सकता है।” लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि “अफ्रीका का सबसे खतरनाक जानवर कौन-सा है?” इसके उत्तर में वह लिखता है : “मैं जानता हूँ कि बहुत से शिकारी मुझ से सहमत न होंगे पर फिर भी मेरा मत है कि तेंदुआ अफ्रीका का सबसे भयानक जानवर है।” तेंदुओं के सम्बन्ध में उभका यह पर्यवेक्षणा अत्यन्त मनोरंजक है : “तेंदुओं में एक बात बड़ी सराहने के योग्य है। नर तेंदुए का सम्बन्ध कभी एक से अधिक मादा के साथ नहीं रहता। शेरों में यह बात नहीं पाई जाती। तेंदुओं का जोड़ा सदा ही बड़े प्रेम से रहता है। एक बार मैंने एक बड़े ही उत्पत्ती मादा तेंदुए का अन्त करने के लिए जंगल में विषयुक्त प्रलोभिका को रखने का प्रबन्ध किया। अगले दिन मैंने जंगल में जाकर देखा कि मादा निष्प्राण पड़ी थी और एक नर तेंदुआ उसके शरीर पर अपना सिर रखे लेटा हुआ था। मुझे देखते ही वह उछल कर खड़ा हो गया। तब मेरी गोली खाकर उसने भी प्राण त्याग दिए और अपनी चिग-संगिनी के शरीर पर जा गिरा।” एक शिकारी को जंगल में किम प्रकार भटकना पड़ता है इसका वर्णन पुस्तक में अत्यन्त कवित्वपूर्ण है। एक दिन का वर्णन जब कि वह प्यासा अफ्रीका के जंगलों में भटक रहा था उसने निम्न प्रकार किया है : “और यदि उस दिन मैं गिरता-पड़ता पानी के गैदले खोले के किनारे न पहुँच जाता जिसमें कि गैंडे और अन्य जंगली जानवर आकर लोट लगाया करते थे—तो मैं अवश्य ही प्यासा मर जाता। उस खोले के बंदबूदार

और की वजह से मेरे गाढ़े जल को जिस में कि गँडे अपना मल-मूत्र भी त्याग जाते थे,—मैंने जी भर कर किया।” कठिनाई में मनुष्य को क्या नहीं करना पड़ता।

पुस्तक का अनुवाद अच्छा हुआ है। पुस्तक का अनुवाद कुछ संक्षिप्त रूप में किया गया है। हम समझते हैं कि यदि मूल पुस्तक का अविकल पूरा अनुवाद किया जाता तो अच्छा होता।

प्यार बॉटते चलो

लेखक : इन्दीवर

प्रकाशक : बौरा एण्ड कम्पनी,

पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,

३, राउण्ड बिल्डिंग, कालबा देवी रोड,

बम्बई—२

मूल्य : २-५०

प्रस्तुत पुस्तक का नाम लेखक ने अपनी एक कविता “प्यार बॉटती चलो” के आधार पर “प्यार बॉटते चलो” रखा है। इस पुस्तक में लेखक ने अपनी ४७ कविताओं का संग्रह किया है। अपनी कविता के सम्बन्ध में श्रीयुत इन्दीवर ने सशक्तता के साथ कहा है :

“कुछ लोग सोचते हैं मेरे,
ये गीत जल्द मर जाएँगे
जो काम इन्हें सौंपा मैंने
वह काम मगर कर जाएँगे
सूरज न मही मैं शमा सही
बस एक रात ही काफ़ी है
जिससे कि बदल जाए जीवन
बस एक बात ही काफ़ी है”

एक ओर तो श्रीयुत इन्दीवर अपनी “रूपान्तर” कविता में कला के सम्बन्ध में कहते हैं :

“दुनिया की हर कला, वासना का सुन्दर-सा रूपान्तर है।” इस कविता में उन्होंने फ्राइड के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। वे इस कविता में कहते हैं :

“प्यार न देखा गया,
पाया गया कहीं भी ऐसा माता,

ये है नरन-प्यास,
सौ सौ पदों में जिसे छुपाया जाता”

और इसी प्रकार आगे चल कर :

“जब वह जग में चीज नहीं है
नाम कहाँ से उसका आया”

“मानव का मन क्या कहिए,
युग युग से पाखण्डों का घर है”

प्रेम को इस प्रकार वासना का रूपान्तर कह कर अपनी एक अन्य कविता “ताज” में उन्होंने स्वयं इसका प्रतिवाद-सा कर दिया है। इस कविता में उन्होंने किंग एडवर्ड अष्टम ने अपनी प्रेमिका के लिए इंग्लैण्ड के राज्य-सिंहासन के परित्याग की गाथा का मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया है। वे इस कविता में कहते हैं :

“कह न सकेगा कोई भी अब सच्चा प्यार नहीं है
प्यार निभानेवालों से खाली संपार नहीं है
तुमने दिया प्रमाण प्यार का औ’ हम इतराते हैं”

और आगे चलकर वे अपनी “आकर्षण” कविता में “प्यार” को “प्यास” कहते हैं :

“इसे तुम प्यार कहो या प्यास, यही जीवन का धन है”

श्रीयुत इन्दीवर की कुछ कविताएँ “इतिहास पढ़ाना बन्द करो” आदि इस प्रकार की हैं कि जिनमें कुछ तर्क और भावना की सबलता है परन्तु उनको पढ़ने में कुछ ऐसा अनुभव होता है कि वह अपनी भावनाओं के आवेग में सम्भवतः अपने मानसिक सन्तुलन को खो बैठता है। इन कविताओं में कुछ इतने अधिक सख्त शब्दों का प्रयोग किया गया है कि वह अपने बल और शक्ति को खो बैठती हैं। यह सत्य है कि कविता में भावना की प्रधानता होती है तो भी इनमें भी जितना संयम और सन्तुलन होगा उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ जाती है।

इन्दीवर का हृदय भावनापूर्ण है और वह एक कल्पनाशील व्यक्ति है। उसमें निर्माण की कल्पना, प्रतिभा और समता है। प्रस्तुत पुस्तक की कई कविताएँ स्वस्थ और सुन्दर हैं और उनसे इन्दीवर का जो

परिचय प्राप्त होता है उससे यह आशा होती है कि हिन्दीवर अपनी कविताओं द्वारा हिन्दी में अपना एक विशिष्ट स्थान बना सकेंगे।

कालित-कुंज,

गगनमहल कौलोनी

—वंशीधर विद्यालंकार

हैदराबाद—१

अरुणी न फ़ारसी

लेखक : मोहनलाल गुप्त

प्रकाशक : मधु प्रकाशन चेतनगंज, वाराणसी-१

मूल्य : २. ५०

श्री मोहनलाल जी गुप्त हिन्दी साहित्य में भैरवाजी बनारसी के नाम से अधिक परिचित हैं। हास्य व्यंग के आप सुप्रसिद्ध लेखक और कवि हैं। 'अरुणी न फ़ारसी' नामक प्रस्तुत पुस्तक में आपकी हास्य व्यंग की कविताओं का संग्रह है। संग्रह को रुवाईयों, गजल, बेतुके और गीत इन चार भागों में बाँटा गया है।

आत्म परिचय देखिए :

“काव्य का आमलेट बनाता हूँ
गीत को चाकलेट बनाता हूँ
तजे फ़िल्मी है, चाट इल्मी है
गुन गुनाता हूँ और गाता हूँ”

आजकल कवि सम्मेलन का जो विकृत रूप हो रहा है उसके सम्बन्ध में देखिए :

“गीत दो-चार लिखे गाता हूँ,
फ़िल्मी धुनमें इन्हें सुनाता हूँ,
दुकान तुकों की है चल निकली,
आप की दुआ से कमाता हूँ,”

प्रकाशक लेखक को ठगता है उसके सम्बन्ध में कवि ने वास्तविक चित्र उपस्थित किया है :

“ऐसी बिकी थी कविता
जैसे कबाब बांटी
जब प्रकाशक ने जोड़ी
सर्चे की रकम मोटी
कवि जी के पड़े पल्ले
बस तीन ही अंधेले
ये सिन्दगी के मेले”

कवियत्री पत्नी के विवाह के पश्चात का एक चित्र :

“कवि सम्मेलन में जाती जब,
सैखिल की (रक्षा) करता हूँ
कविता प्रेमी कुछ सम्पादक,
कवियत्री से मिलने आते
तुकबन्दी काख़िदास से,
आगे बढ़ी हुई वे बतलाते
कविता से ज़यादा कवियत्री पर,
प्रेम सुधा है सरसाते”

× × ×

“प्रातः इण्टरव्यू देती है,
दिन में कालेज वह में दफ़्तर
सम्भ्याको साहित्यिक संगम,
निशि में कविता, सुना बिस्तर
कैसे मिल पाएँगे दोनों,
कल्पना वीन, ढोलक के स्वर
है अलग राह, है अलग राह,
बढ़ता ही जाता है अन्तर
है भूल भयंकर मैंने की,
जो कवियत्री से शारी की
कारों को आज सुनाता हूँ,
निज करुण कथा बरवादी की”

‘आज’ के भुतपूर्व सम्पादक श्री रा० र. खाडिल कर मास्को यात्रा से लौट कर आए और उन्होंने वहाँ की चर्चा की :

“खाडिलकर्जी मास्को से लौटे कर यात्रा सुखद दवाई,
बातों ही बातों में भैरवा एक रोज़े की बात बत ई
राजकपूर मास्को में है पण्डित नेहरू से भी प्यारा
गली-गली रेस्तराँ होटलों में बजता है धुन आवारा”

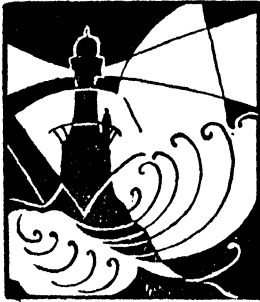
रूमने ढाल ही में जो राकेट छोड़ा था :

“सुना है रूप ने एक नया चोंद छोड़ा है
देखकर मुँह दुलेमने, आइक ने सिकोड़ा है
कोई कहता है नया चोंद दूज का निकला
कोई कहता है—अजी हँसिया है, हथोड़ा है”

१७०, हाईकोर्ट रोड,

हैदराबाद-२

—ऋषि मामचन्द्र कौशिक



सामयिक

॥

हिमालय की आत्मा

पसिद्र हसी 'लाकार स्वेटोस्लोव रोरिच के लेख 'स्पिरिट आफ हिमालयाज' का अनुवाद श्रीयुत सीमधेन 'निर्मल' ने किया है। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

गत कई वर्षों से मैं हिमालय से—पश्चिम की महान् पर्वतश्रेणियों से लेकर पूर्व के गगनचुम्बी शिखरों तक घनिष्ठ रूप से परिचित हूँ। उसके अनुपम सौन्दर्य और वैभव के प्रथम दर्शन से लेकर अब तक मेरे हृदय पर जो प्रभाव पड़ा है वह समय के साथ-साथ विस्तृत और प्रगाढ़ बनता गया है और मेरे हृदय में उस महान् पर्वतराज का संदेश दिन-ब-दिन स्पष्ट होता गया है। क्रमशः उसका बाह्यरूप और अन्तरार्थ दोनों एकाकार हो, एक नए और महत्वपूर्ण अर्थ को प्रहण करते गए और यह उसी शक्ति का परिणाम है जो हिमालय के प्रति गुंथी हुई अनेक धारणाओं का है। यह प्रकृति का वह महान् मंदिर है जो सत्य के सभी रूपों के सच्चे अन्वेषियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अति प्राचीन काल से मनुष्य की उत्तम लालसाएँ, उन्नत धारणाएँ और अनेकों दन्तकथाएँ हिमालय से जुड़ी हुई हैं।

संसार भर में, जब कभी 'हिमालय' शब्द का उच्चारण होता है तो लोग सचेत हो जाते हैं, एक विशिष्ट कुतूहल और आकांक्षा से उनका मुखमण्डल दमक उठता है। यह केवल अत्यधिक ऊँचाई की ही धारणा नहीं है, अजेय शिखरों की ललकार ही नहीं, अज्ञात हिम सरोवरों और घाटियों की ही कल्पना नहीं, वनस्पतियों और पशुओं की अविश्वमनीय संपत्ति की ही बात नहीं, अपितु इन बाह्य आकर्षणों की अपेक्षा कोई और ही महान् विशिष्टता है इस शब्द में। मानों कोई अदृश्य मानसिक प्रभाव हो उस शब्द में, कोई विशिष्ट

चुम्बकीय शक्ति हो जिसने हिमालय को धार्मिक यात्राओं का एक महान् केन्द्र बनाया है। हिमालय की घाटियों और तराइयों को सुशोभित करने वाले अनगिनत मंदिर और गुफाएँ हैं। कैलाश, मानसरोवर, बदरीनाथ, केदारनाथ, रावलमग, त्रिलोकीनाथ, अर्जुन की गुफा, मिलरेव की गुफा आदि आध्यात्मिक गवेषणा और प्रेरणा के केन्द्र सर्वपरिचित हैं ही परन्तु इनके अतिरिक्त पर्वतश्रेणी के दोनों ओर, ऐमें कितने अज्ञात मंदिर और पवित्र स्थान होंगे जो सत्य के सच्चे खोजियों के लिए हैं।

महान् ऋषियों ने अपने पवित्र और आध्यात्मिक अनुसन्धानों के लिए हिमालय को अपना केन्द्र बनाया है। संसार के महान् उपदेश और सिद्धान्त इन्हीं गगनचुम्बी शिखरों की गोद में ही आविर्भूत हुए हैं। यह कोई निगाली बात नहीं है क्योंकि संसार के सभी महान् गुरु दैवी प्रकाशन (वाणी) प्राप्त करने के लिए इसी प्रकार ऊँचाइयों पर गए हैं। तो क्या यह ऊँचाई, यह शाश्वत हिमराशि, यह विरल वातावरण, मन को अधिक स्पष्ट करने में सहयोग देता है या दैनिक जीवन के घटनाओं से ऊपर उठने के लिए ऊँचाई पर जाना अनिवार्य है ?

आप में से जो लोग पर्वतों की ऊँचाइयों पर गए होंगे उन्हें इसका अनुभव होगा कि वहाँ जाकर मस्तिष्क कितना सक्रिय हो जाता है और कितना हलका। निद्रा की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती। क्यों ऊँचाइयों की इन्हीं विशेषताओं ने सत्य के महान् अन्वेषकों को अति प्राचीन काल से ही आकर्षित किया है ?

पवित्र स्थानों में ही पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही स्थान पवित्र हैं जो निम्न और अस्तित्व के संघर्ष एवं आत्म-नृत्ति के प्रयास में उत्पन्न स्वार्थी वासनाओं से अस्पृश्य हों।

यात्रियों का दल दर्रे के सबसे ऊँचे स्थान पर पहुँच रहा है। लोग अपनी सवारियों से उतरते हैं और चमकीले प्रिमूल (Primulas) को चुनते हैं और बड़ी श्रद्धा के साथ इस पूजा सामग्री को आस-पास के चट्टानों पर रखते हुए कहते हैं : “इन शिखरों पर स्थित देवों की सेवा में समर्पण हैं।” वास्तव में यही भाव है जो ‘हिमालय’ शब्द के उच्चारण से अनायास ही प्रकट होता है—‘देवों का निवासस्थान।’

महान् ऋषि-मुनियों ने कदाचित् उन आध्यात्मिक शक्तियों से संपर्क स्थापित किया हो अन्यथा वे उन गिरिशिखरों की तरफ न जाते। ये महान् आत्माएँ, ये प्रतिभासंज मस्तिष्क, जिन्होंने हमें अद्वितीय वेदान्त और दर्शन की प्राप्ति कराई है, नहीं जानते थे कि सर्वातिरिक्त विचारधारा के प्रादुर्भाव के लिए कौन-सा स्थान समुचित था ?

इन महान् दार्शनिकों ने विज्ञान द्वारा निरूपित होने में पहले ही प्रकृति की अबूझ पहेलियों को सुलझाया था। उन्होंने अणु सिद्धान्त, सापेक्ष सिद्धान्त और कम्पन के सिद्धान्त, माया और तत्त्व आदि का स्पष्ट उल्लेख किया है। विज्ञान के यह पता लगाने से बहुत पहले ही कि मानव-मस्तिष्क कुछ विचित्र लहरों को प्रभारित करता है, उन्होंने मानसिक संक्रमण के सिद्धान्त का उल्लेख किया है।

सचेत और जागृत मन अवश्य ही सृष्टि के प्रभावोत्पादक शक्तियों में अपने को लीन कर सकता है और जीवनरूपी पुस्तक को पढ़ सकता है। सचेतन अस्तित्व का यह व्यक्तिगत केन्द्रीकरण जीवन का एक भाग ही है अतः वह जीवन के सभी शक्तियों में अपने को लीन कर सकता है। व्यक्ति यदि आत्मज्ञान और आत्मबोध की शक्ति से संपन्न है, अपने व्यक्तिगत सचेतना का ज्ञान रखता है तो मानव-मन के ज्ञान और सिद्धि की कोई सीमा नहीं रह सकती। अर्ध चेतन के कुछ विलक्षण गूढ़ समस्याओं का आभास हमें अद्भुत कौतुकपद विषयों और मोहनिद्रा में मिलता है।

यात्री मार्ग के किसी मन्दिर के पास इकट्ठे होते हैं। ‘तुमने कभी प्रकाशमय को देखा है ? कभी बरफ के मनुष्य (snow man) को देखा है ? कभी शाश्वत हिमखंडों से परे रहने वालों को देखा है ?’ अब वर्ण-नात्मक कथा शुरू होती है और श्रोता सावधान हो

जाते हैं। एक नई आशा और बोध, आकस्मिक रूप से मिलने वाले इन पथिकों को एक सूत्र में बाँधते हैं।

प्रत्येक दन्त-कथा और शंका के पीछे मल्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य ही होता है।

आत्मा की खोज, जो सदा के लिए मनुष्य जाति का सर्वोत्तम प्रयास रहा है, रहेगा भी, इस दृश्यमान जीवन के खोखलेपन से परे किसी वस्तु, किसी तत्त्व को प्राप्त करने की स्वाभाविक आकाँक्षा है। सभी महान् मस्तिष्क जन्म मरण की गूढ़ समस्याओं पर विचार करते रहे और हमें यह बतलाया कि इस पृथ्वी पर जीवन यह अल्पकालीन अस्तित्व-आवागमन की कोई आकस्मिक घटना नहीं है जो मृत्यु द्वारा किसी अज्ञात प्रयोजन के लिए ढकेल दिया जाता हो। यह जीवन, आत्मा की अनुभव-प्राप्ति का साधन मात्र है और जब भौतिक-अस्तित्व का अन्त आ जाता है, तब भी सच्चा मनुष्य किसी दूसरे क्षेत्र और परिस्थिति में अपनी यात्रा को जारी रखता है।

क्या कोई तर्क से इस विषय को स्वीकार कर सकता है कि मानव-मन से उद्भूत सिद्धान्त, दर्शन, कला की अत्युत्तम कृतियाँ और मानव प्रतिभा के सभी व्यक्त रूप जो शताब्दियों तथा सहस्राब्दियों तक जीवित रह सकी हैं, ये सब क्या एक सीमित मन के उत्पाद हैं ? सभी प्रकार की अभिव्यक्ति का मूलभूत कारणस्वरूप सृष्टिकर्ता का लोप हो गया है या उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है ?

प्रचण्ड अग्नि, संघर्ष से परे, नाश और हिंसा से अतीत है आत्मा के अस्तित्व की सनातनी धारणा।

महान् वैभवयुक्त है हिमालय जिसके प्राचीर स्वर्ग से बातें करते दीखते हैं। चक्करदार घाटियों और पार्वत्य संकुचित मार्गों में ही गुरु चरक ने अमूल्य और आरोग्य प्रद जड़ी बूटियों छोट निकाली थीं। तरह सौ साल पहले आया हुआ वह विचित्र चीनी यात्री, ह्वेन-सांग, हिमालय में प्राप्त जड़ी बूटियों के बारे में लिखता है। महाभारत से थके मोड़े पांडव विश्रान्ति की खोज में यहीं आए थे। तिब्बत का मन्त कवि मिलरेप यहीं प्रकृति की प्रतिध्वनियों और पारलौकिक स्वरो को सुनता रहा।

इन महान् पर्वत भ्रमणों में अतीत की कितनी ही स्मृतियाँ निहित हैं। मानवता थी मुक्ति की खोज करने वाला गौतम, ऋषि व्यास, ऋषि नारद, ऋषि

अगस्त्य आदि अगणित प्रतिभासंज्ञ आत्माएँ हैं जिन्होंने इन गगनचुम्बी गिरि-शिखरों की गोद में ईश्वरी प्रेरणा प्रदण की है और उन्हें संकट-प्रस्त मानवता तक जो अज्ञान और स्वार्थ के फंदों में फँसी है, पहुँचाया है। महान् पैथागरस तायना का अपोक्रिनियम ने अवश्य ही इन ज्ञान के प्रकाश से युक्त महात्माओं से परिचय प्राप्त किया होगा जब कि वे ज्ञान की खोज में भारत आये थे।

लामा कहता है—‘मेरे गुरु मुझे बुला रहे हैं। मुझे जाना चाहिए। गुरु जी की संभार यात्रा का अन्त निकट आया है।’

‘लेकिन आपके वह गुरु रहते कहाँ हैं ?

‘वे अब कैलास पर हैं और वहाँ जाने में मुझे महीनों लग जाएँगे।’

इस प्रकार कहता है एक लामा योगी, जिसने हजारों मीलों में अपने गुरु के दिल की धड़कन सुनी है।

हिमालय की तराइयों में अब भी निगूढ़ रहस्य अपना अस्तित्व रखते हैं। जिज्ञासा और उपहास के लिए न हो कर, सच्चे और खुले दिल से खोजने वालों के लिए वे सदा से ही वहाँ उपस्थित हैं।

यदि हम पक्षपात रहित मन से जीवन के सच्चे अर्थ के बोध की खोज करें तो वह हमारे चारों तरफ व्याप्त मिलेगा और वह हमारे हाँकोग और आदतों को नया जीवन प्रदान करेगा। एक बार हम इन शाश्वत सत्यों और मूल्यों से संपर्क स्थापित करें तो हमारा जीवन कितना संपन्न बन जायगा; संसार की प्रत्येक वस्तु एक नया ही अर्थ और प्रयोजन प्रदण करेगी। और वास्तव में आजकल की हथियार बन्दी के जमाने में हमें उच्चतम सत्यों पर, जो प्रत्येक संघर्ष और नाश से परे यथार्थ और शाश्वत हैं, विचार करना चाहिए।

संघर्षों के कलहों से परे हिमालय की आत्मा अपने प्रभाव को संसार भर में फैलाती ही रहती है जिसके दर्शन हम महोजन विचार-तत्वों में, कलाओं में, कविता में, संगीत में, चित्रकला में, शिल्पकला में और वस्तु कला में करते हैं।

एलोरा के महान् कैलास मंदिर का नक्शा, हिमालय के उत्तुङ्ग कैलास शिखर के नभूने पर ही बना है। जो लोग उन महान् पर्वत श्रेणियों से दूर हैं, वे इसे बेकर, उस महानता से प्रेरित हो। ये महान् चित्र

और पत्थरों के ढेर, अपने निर्माताओं की दृष्टि में महत्तर प्रयोजन रखते थे।

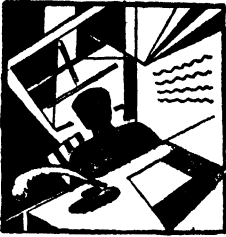
इन वैभवयुक्त पर्वत श्रेणियों की सुन्दरता कितनी अविस्मरणीय है। संसार का प्रत्येक संभावित रंग और आकृति उनकी है। तंग और चक्रदार घाटियों और गुफाओं में से प्रवाहित होनेवाली नदियाँ, उन शाश्वत हिमखण्डों का संदेश दूर मैदानों तक फैलाती हैं। दिन-रात मेड़नत करने वाले लाखों प्राणियों को पवित्र जीवन प्रदान करने वाली तीनों नदियाँ—गंगा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र—यही से निकल पड़ती हैं। जल प्रपात हजारों इन्द्रधनुषों की सृष्टि करते और निर्द्वन्द्व बढ़ने वाले हिम-प्रवाह, करारों की तरफ अपना मार्ग बना लेते हैं। चिरस्थायी, चिरव्यापक जीवन, पत्थरों को बुकनी बनाते हुए बिखरने वाले प्रवाहों में, जगमग चमकने वाली स्फटिक शिलाओं में प्रतिबिम्बित होता रहता है। जीवन का शाश्वत तत्त्व अनस्सीम एवं विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। प्रकृत उन विभिन्न रूपों को एक नया और विशिष्ट रूप देने के लिए विलीन करता रहता है, एक नई ताजी प्रेरणा और सम्मिश्रण के बूते पर।

सचमुच हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक सौन्दर्य की यह अनुपम संगति, हिमालय को छोड़ कर अन्यत्र दुर्लभ है।

पंचनिधियों का पदरेदार, कंचनगंगा, गुलाबी रंग के मोतियों से गुंथे बहुमूल्य गलदार के समान जगमगाता रहता है, जो धुंधली घाटियों और पर्वत शिखरों के ऊपर विराजमान है। मानों किसी दूसरे लोक के सर्वातिशय सौन्दर्य का प्रदर्शन कर रहा हो, हमारी आत्मा को उन्नत बनाने के लिए।

ओ हिमवान् ! तू महान् विचार-धारा का उत्पत्तिस्थान है। महोजन विचार तरे उल्लु। शिखरों पर परिभ्रमण करते दीखते हैं। शमबाला, पवित्र प्रकाश (Holy grail), जेरुसलम की पवित्रता, ये सब परस्पर संबद्ध आकांक्षों और दर्शनों के चिह्न मात्र हैं, जो विभिन्न समयों के हैं, जो परिश्रान्त मानवता को तूदल सच्ची आशा के चिह्न हैं, शाश्वत तत्त्व के प्रति महान् दार्शनिकों की स्वीकारोक्तियाँ हैं।

हिमवत् (वान्) ओ सुन्दर ! तू हमें अद्वितीय निधियों प्रदान करता रहा और तू हमेशा के लिए प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों का—पृथ्वी और आकाश के सम्मेलन का—प्रहरी बना रहेगा।”



सम्पादकीय

शब्दों के उच्चारणों का मानीकरण (Standardization)

पत्रों में हमें यह समाचार पढ़ कर प्रसन्नता हुई कि आल इंडिया रेडियो ने भारतवर्षीय नामों, स्थानों, उत्पत्तियों और सांस्कृतिक पारिभाषिक शब्दों के उच्चारणों के मानीकरण के लिए एक कोश के निर्माण करने का निर्णय किया है। कहा जाता है कि “यह कोश ६ महीनों के अन्दर तैयार हो जाएगा। प्रारम्भ में इसमें २५,००० शब्द होंगे। शब्दों का मानीकृत उच्चारण अंग्रेजी, और प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध हो सकेगा। इन्हें देवनागरी में भी दिया जाएगा। इस कोश में वेही उच्चारण दिए जाएँगे जो कि एक क्षेत्र में साधारण तौर पर बोले जाते हैं।”

इस समय स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि एक ही शब्द को भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से बोला जाता है। एक समय था जब कि उच्चारणों से की इन भिन्नताओं की ओर विशेष रूप से कुछ ध्यान नहीं दिया जाता था। इनमें से बहुत-से शब्दों के उच्चारणों में भिन्नता एक भाषा की अपनी और स्थानीय विशेषताओं के कारण हो जाती है। उच्चारणों की इस विभिन्नता में लिपि भी एक बहुत बड़ा कारण है। फिर कुछ भाषाओं में कुछ वर्ण हैं ही नहीं और इन वर्णों के न होने के कारण उनके उच्चारणों में भेद हो जाता है। कुछ वर्णों का उच्चारण भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न प्रकार से किया जाता है। इन उच्चारणों में कौन-सा उच्चारण शुद्ध है इस के विषय में निर्णय करना कठिन है और इनके मानीकरण (Standardization) को भी जितना सुगम सम्भवा जा रहा है—वह उतना सुगम नहीं है। एक उच्चारण जब हजारों के मुखों से निकलने लग जाता है और एक परम्परा के रूप में परिवर्तित हो जाता है तो वही उच्चारण मानीकृत सम्भवा जाने लग जाता है। यदि उच्चारण के प्रश्न को उठाया जाए और यह कहा जाए कि यह शब्द अमुक भाषा का है और वहाँ इसका उच्चारण इस प्रकार नहीं होता तो यह कहा जाने लगता है कि यह शब्द हमारी भाषा में आया तो उस

भाषा से होगा और उस भाषा में इसका उच्चारण इसी प्रकार किया जाता होगा परन्तु हमारी भाषा में इसका उच्चारण इसी प्रकार किया जाता है और हमारी भाषा में यही उच्चारण ठीक है।

अभी पिछले दिनों सूरत में बाढ़ आई थी। हम आल इंडिया रेडियो से बंगाली में समाचार सुन रहे थे। उस समय तक हमें मालूम नही था कि सूरत में बाढ़ आई है। बंगाली में समाचार के बुलेटिन को एक बंगाली महिला पढ़ रही थी। उसने कहा : “सुराट में चारों ओर पानी ही पानी हो गया है।” सुन कर हम सोचने लगे कि क्या सौराष्ट्र में कहीं बाढ़ आ गई है क्योंकि ‘सुराट’ शब्द ‘सौराष्ट्र’ से मिलता जुलता है। बाद में हमें मालूम हुआ कि बंगाली में ‘सूरत’ को ‘सुराट’ बोला जाता है। हमने इस विषय में आल इंडिया रेडियो के एक अधिकारी से बातचीत की। ये अधिकारी एक बंगाली महोदय थे। उन्होंने इसी बात को बलपूर्वक कहा कि बंगाली में ‘सूरत’ को ‘सुराट’ ही बोला जाता है। इसी प्रकार एक दिन हम एक होटल में भोजन कर रहे थे। वहाँ कुछ बंगाली महोदय भी थे। उनको जब ‘चपातियों’ की आवश्यकता होती थी तो वे जोर से कहते थे : “चपैटियाँ लाओ।” अब इस बात पर कौन बहस कर सकता है कि ‘चपातियाँ’ शब्द शुद्ध है या ‘चपैटियाँ’। हमने ‘गांधी’ शब्द को अनेक मुखों से ‘गैण्डी’ सुना है; ‘पटना’ को ‘पैटना’ सुना है और जिन भाषा के व्यक्ति से सुनिए—वह शब्दों का उच्चारण अपने ढंग से करता है और यह चीज इतनी अधिक प्रचलित हो गई है कि स्थिति में परिवर्तन करना सुगम नहीं है। उर्दू पढ़नेवाला “मालवीय” को “मालविया” ही बोलेंगा; ‘प्रसाद’ को ‘परसाद’ कर देगा। जब ‘युनाइटेड प्रोविन्स’ का नाम “Uttar Pradesh” (उत्तर प्रदेश) कर दिया गया तो एक दिन उत्तर प्रदेश के रहने वाले एक मुमहम्मद महोदय जो कि हैदराबाद के शिक्षा-विभाग में एक उच्च अधिकारी रहे थे—हमारे पास आए और कहने लगे कि

“हम आप से एक प्रश्न पूछना चाहते हैं। यह प्रश्न हमारे दिल में कई दिनों से उठ रहा है।” हमने कहा: “पूछिए।” कहने लगे “देखिए—हमारे सूत्रों का नाम वर्तमान प्रशासन ने “उत्तर प्रदेश” रख दिया है और “परदेश” तो आप जानते हैं “दुमरे देश” को कहते हैं। हम इस बात को नहीं समझ सकते कि इस प्रकार अपने ही देश को क्यों “परदेश” बना दिया गया है।” हम उन्हें बड़ी कठिनाई से समझा सके कि यह शब्द ‘परदेश’ नहीं ‘प्रदेश’ है। कठिनाई इस बात में थी कि वे ‘प्रदेश’ शब्द का ठीक तरह उच्चारण नहीं कर सकते थे और इस कारण उनके लिए ‘प्रदेश’ और ‘परदेश’ को भिन्न रूप से बोलने और समझने में कठिनाई होती थी।

तमिलनाडु में ‘घ’ ‘घ’ और ‘भ’ जैसे महाप्राण वर्णों को ‘अल्प प्राण’ रूप में ही बोला जाता है। भारतवर्ष के राष्ट्रगीत को जब जब हमने तमिलनाडु में सुना है तो हमने “भारत-भारय विधाता” के स्थान पर “भारत-भारय-विदाता” ही सुना है। हम यह सुन कर सोचते रहे हैं कि कम-से-कम भारत के राष्ट्रगीत का उच्चारण तो ऐसा होना चाहिए कि जो समस्त देश में एक जैसा हो। राष्ट्र के महान् नेताओं के नाम का उच्चारण भी एक प्रकार से समस्त भाषाओं में नहीं किया जाता। महाराष्ट्र में “तिलक” को “टिळक” बोला जाता है, क्योंकि वे महाराष्ट्र के थे—इसलिए यही उच्चारण ठीक माना जाना चाहिए परन्तु संस्कृत का शब्द “तिलक” है और भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में “तिलक” ही बोला जाता है। इसी प्रकार भारतवर्ष के अन्य भाषाओं से माधारण शब्दों के सर्व-सामान्य-स्वीकृत उच्चारणों के भेद के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि यह प्रश्न इतना आसान नहीं है और यह प्रश्न एक मात्र आल इंडिया रेडियो का प्रश्न नहीं है। हम समझते हैं कि इस समस्या को भारतवर्ष की भिन्न भिन्न भाषाओं के शास्त्रियों और साहित्यकारों की सहायता से हल किया जाना चाहिए। इतने महान् देश में उच्चारणों की विभिन्नता का होना सर्वथा स्वाभाविक है परन्तु मनुष्य प्रकृति की स्वाभाविक शक्तियों पर भी विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस महान् देश की सांस्कृतिक

एकता के लिए समस्त देश में प्रचलित शब्दों के उच्चारणों में मानीक्य की आवश्यकता है—इस में कोई सन्देह नहीं है परन्तु यह समस्या आल इंडिया रेडियो के एक कोश द्वारा—जिस कि छै मास के अन्दर तैयार किया जा रहा है—और जिस में २५,००० शब्द होंगे—हल हो जाएगी—यह आशा एक दुराशामात्र प्रतीत होती है।

“विशाल” शब्द का प्रयोग :

भारतवर्ष को जब स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हुई थी तब समस्त प्रान्तों में जो कुछ सोचा जाता था वह प्रायः अखिल भारतवर्ष के सम्बन्ध में होता था। उस समय प्रादेशिक चेतना इतनी तीव्रता से जागृत नहीं हुई थी। उस समय “विशाल” जैसे शब्द एक मात्र “भारत” के साथ ही लगाए जाते थे। अंग्रेजी के Greater India के लिए “विशाल भारत” जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता था इस सम्बन्ध में “महा” शब्द का प्रयोग करना इसलिए कठिन था क्योंकि “महाभारत” शब्द के और अर्थ भी होते थे। ‘वृद्धतर भारत’ आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया किन्तु अधिकतर इस में “विशाल” शब्द का प्रचलन हुआ। अब समय में परिवर्तन आ गया है। अखिल भारतवर्ष की चेतना के स्थान में प्रदेशों की चेतना का विस्तार हो रहा है। संभवतः यही कारण है कि अब “विशाल” शब्द का प्रयोग भारतवर्ष के प्रान्तों के साथ किया जा रहा है। आन्ध्र के साथ “विशाल आन्ध्र” के शब्द का प्रयोग तब तक होता रहा जब तक कि आन्ध्र प्रदेश का निर्माण नहीं हो गया। “महाराष्ट्र” के साथ तो पहले ही “महा” लगा हुआ था—इस लिए उसके साथ “संयुक्त” शब्द को जोड़ा गया। गुजरात के साथ “महा” शब्द को जोड़ कर “महागुजरात” शब्द को बनाया गया। हो सकता है कि “गुजरात” प्रान्त के अलग बन जाने के पश्चात् इस प्रदेश का नाम केवल “गुजरात” ही रह जाए। इस समय “हरियाना” के आगे भी विशाल शब्द लगा कर उसे “विशाल हरियाना” बनाया जा रहा है। यदि प्रान्तों को ही पृथक् रूप से “महान्” और “विशाल” बनाया जाएगा—तो कहीं ऐसा न हो कि इन प्रान्तीय विशालता की भावनाओं में समस्त राष्ट्र की विशालता खतरे में पड़ जाए। सत्य तो यह है कि भारतवर्ष की महानता और विशालता से भारतवर्ष के समस्त प्रदेश महान् और विशाल बन सकते हैं।

हिन्दी भाषा और साहित्य की
पुस्तकों को खरीद कर पढ़ने का अर्थ है,
राष्ट्रभाषा की उन्नति में हाथ बटाना



हिन्दी के उत्कृष्ट

साहित्य

का

एक मात्र प्राप्ति स्थान



पुस्तक-विक्रय-विभाग

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

दक्खिनी साहित्य

के

अमूल्य और प्राचीन ग्रन्थ

मुल्ला वजही

गवासी

फूलबन

सबरस (गद्य में)

आवश्यक टिप्पणियों और शब्दकोश के साथ नागरी-लिपि में

सेक्रेटरी

दक्खिनी प्रकाशन समिति

हिन्दी प्रचार सभा, नामपल्ली, हैदराबाद द.

टेलिफोन नं. ३४३५०

तार : "हिन्दी"